भक्त और भगवान
वेदी

सम्पादक—
पं० जवाहरलालजी चतुर्वेदी

प्रकाशक—
हिन्दी-साहित्य-कुटीर
बनारस सिटी

[संस्करण]   होली, १९९०   [मूल्य १॥)

प्रकाशक—
गिरधरदास, द्वारकादास,
हिन्दी-साहित्य-कुटीर
हाथीगली, बनारस सिटी

मुद्रक—
विजयबहादुरसिंह, बी० ए०
महाशक्ति-प्रेस,
बुलानाला, बनारस सिटी

भूमिका

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः ।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ॥

अथर्व १०।८।४४

वेदों में भगवान् को रस से पूर्ण—रस तृप्त—कहा गया है।
रूप ही हैं—

रसो वै सः ।

उस रस को प्राप्त कर लेने पर ही मनुष्य सच्चा और अमर
प्राप्त करता है। रस के सागर ब्रह्म को जानने की कला का
मधुविद्या है। वेदों में, उपनिषदों और ब्राह्मणों में जिस मधु-
का नाना प्रकार से वर्णन है वही भक्तों की भक्ति है।
मनुष्य, स्वभाव से ही रस का भावुक है। वह भ्रमर बनकर
के अनेक खिले हुए पुष्पों में से मधु प्राप्त करने का संतत
करता रहता है। परन्तु वह यह भूल जाता है कि इस लौ-
मधु से भी अत्यन्त विलक्षण स्वादुसम्पन्न भगवद्रस को आ-
करने का मधु है। उसके माधुर्य को जिसने जान लिया है,
पुनः अन्य कुछ प्राप्त करने की आकाङ्क्षा नहीं रहती। वह
से तृप्त या रसपूर्ण होकर आनन्द में लीन हो रहता है।
एक बात विशेष है। यह दिव्य मधु रस सर्वत्र और सर्वदा
धाराओं में फूट कर बह रहा है। एक एक पत्र और पुष्प
से इसकी अमृत-मन्दाकिनी का पुनीत प्रवाह निर्गलित हो

रहा है। हमारे श्वास-प्रश्वास में भी यह रस संपृक्त है। प्राणापान की प्रत्येक लहर मधु-सिञ्चित है। अतएव जिस रस को विद्वान् पंडित अनेक शास्त्रों का मथन करके सम्भव है कभी पा जाय, उसीको एक सरल प्रकृति बालक या स्त्री भी अनायास ही पा सकते हैं। भक्तों के लिए यही बड़ा बल है। इस राजमार्ग में बहकने की कहीं सम्भावना नहीं है।

भक्त के मन में दो विश्वास खूब दृढ़ रहते हैं। प्रथम यह कि रस रूप ईश्वर सर्वत्र है, घर में वन में, बालपन युवापन और वृद्धपन में सदा ही रस रूप ईश्वर विराजमान हैं। दूसरे यह कि वह व्यापक रस, प्रेम से प्राप्त किया जा सकता है। अपने हृदय में जितना अधिक प्रेम होगा, उतनी ही तीव्र अनुभूति दिव्य रस की हमें प्राप्त हो सकती है। इन्हीं विराट् नियमों को तुलसीदास जी ने निम्नलिखित पंक्तियों में कहा है :—

हरि व्यापक सर्वत्र समाना।
प्रेम तें प्रकट होहिं मैं जाना॥
देस काल दिसि बिदिसहु माहीं।
कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥
अग-जग-मय सब रहित बिरागी।
प्रेम तें प्रभु प्रगटैं जिमि आगी॥
मोर वचन सबके मन माना।
साधु साधु करि ब्रह्म बखाना॥

इन अविचल विश्वासों से प्रेरित होकर भक्तों ने स्वकूटस्थ प्रेम प्रवाह के बल पर भगवान् के साथ अपने सम्बन्धों की अनेक भांति से कल्पना करके अपने काव्यों में उसे प्रगट किया है। उनका जीवन उनके काव्यों का सर्वोत्तम भाष्य था।

प्रस्तुत पुस्तक 'भक्त और भगवान' के लेखक ने अत्यन्त
...र्ण शैली में भक्त कवियों के हृदयों में प्रतिबिम्बित
...के अनन्त दर्शनों का बहुत रुचिर ढंग से वर्णन किया है।
के लोभी भ्रमरों को यह पराग सामग्री अवश्यमेव रुचेगी।
... बड़े यत्न और कौशल से काव्य-पदों का संग्रह किया गया
अपनी निजी शैली से उन्हे यथास्थान सजा कर लेखक ने
... जगत् को एक स्पृहणीय ग्रन्थरत्न भेंट किया है, इसके लिए
... के पात्र हैं।

मथुरा
...०-२-३४

वासुदेव शरण अग्रवाल
एम० ए०, एल-एल० बी०

सम्पादकीय वक्तव्य

भरनि नेह नवनीर नित, बरसत सुरस अथोर ;
जयति अपूरब घन कोऊ, लखि नाँचत मन-मोर ।

लो, आज दूसरी बार फिर 'दिल्ली के पाचवें सवारों में' अपना नाम 'नॉमिनेट" कराने के निमित्त ग्रंथकार बनने की उद्दाम लालसा से, ` माल और नाम पर हाथ साफ कर सहृदय जनता के सम्मुख समु- हो रहा हूँ। अपने अनाड़ी हाथों से दूसरे की चुस्त-दुरुस्त काव्य- की उर्वरा भूमि को धृष्टतापूर्वक पागलपन से धूलि-धूसरित करता विक्षिप्तता की बहार बिखेर रहा हूँ।

शोर मेरे जुनू का जिस जॉं है,
दख्ले-अक्ल उस मुकाम में क्या है।

लेकिन प्रकाशक जी के साथ ही-साथ अनेकगुणावलम्बित पं० हनूमान- शर्म्मा, वैद्यशास्त्री—जिन्हें किस मुख से कहूँ कि वे मेरे अभिन्न हैं—की परम अनुकंपा ने मुझ-जैसे आलसी और कोरी बात निकम्मे को अपनी प्रेम-जंजीर से जकड़ कर यह ऊल-जलूल कुछ बन सका लिखा ही लिया, मुझे अपना बना ही लिया— वफ़ए-इश्क बदनाम शुदी" की तरह आखिरकार ग्रंथकार बना- ही छोड़ा। "याँ यूँ भी वाहवा है और यूँ भी वाहवा है" समझ कर पड़ा हूँ; क्योंकि जानता था कि अब किसी तरह इनसे जान छुटने नहीं, इसलिए विवश हो टाँग अड़ानी ही पड़ी।

कुछ भी न चली इश्क में तदबीर किसी की,
तदबीर पर हँसती रही, तकदीर किसी की।

और फिर क्यों न टाँग अड़ाता—उनकी आज्ञा का पालन क्यों न

करता ? क्योंकि इस अधमाधम शरीर के सारे कल-पुर्जे तो उन्हीं के हाथ थे ! फिर टाल-टूल कैसे करता ? लेकिन है यह अनधिकार चेष्टा ! भला जिसने भक्त-भाव की भव्य विभूति के कमनीय कण कभी न परखे हो—कभी न निरखे हों, वह उस—

लिखन बैठि जाकी सबहि, गहि गहि गरब गरूर ;
केते भए न जगति मैं, चतुर चितेरे कूर ।

अर्थात्—उन भक्तो के दिव्यातिदिव्य भव्य भावो का और उनके अलौकिक लावण्यमय भावविभूषित सरस सौंदर्य का चित्र जिसे कोई भी चित्रित न कर सका, न खींच सका। वियोगी हरि जैसे चतुर चितेरे खाली हाथ झाड़ कर अलग हो गये। उसका खाका भी न खींच सके, योंही हार मान कर बैठ रहे। उस पर कलम चलाने का प्यार भरा आग्रह! यह बला मेरे सिर, क्या कहूँ ! जिसने कभी इस पाक कूचे मे भूल कर भी पैर न रखा हो, जिसके सांसारिक वासनामय हृदय मे कभी भक्त-भाव की क्षणिक प्रभा भी प्रस्फुटित न हुई हो—उसका यत्किंचित् आभास भी न अटका हो, अथवा यो कहिये कि जिसका हृदय "अज्ञानतिमिरान्ध" से एकदम अलंकृत हो, जिसने भूल कर कभी अपने मद-विभोर उन्मीलित नेत्रों मे "ज्ञानाञ्जनशलाका" की आवश्यकता न समझी हो, उससे यह दुर्द्धर्ष इच्छा कि "भक्त और भगवान" पर कुछ लिख—उनके प्रेम-प्रपीड़ित हृदय के आन्तरिक हाव-भाव की, उनके रूठने-मनाने की, बनने-बिगड़ने की, आड़ी-टेढ़ी सुनाने की एक तस्वीर खींच दे; उनकी भव्य भावनाओं मे विभोर हो कुछ लिख दे ! हरे, हरे ! महान दुस्तर-कार्य-संपादन करने जैसी आज्ञा है ! पर, प्रेम के आगे कुछ न चली और इन टेढ़ी-मेढ़ी चंद सतरो के साथ हाजिर होना ही पड़ा।

नसीब हो न सका दौलते-कदम-बोसी,
अदब से चूम के हजरत का आस्ताना चले।

यह तो मै पहले ही निवेदन कर चुका हूँ कि उक्त विषय पर कुछ

,, एकमात्र अनधिकार चेष्टा थी। पर प्रेम मे आकर वियोगी हरिजी
अनेक खूबियों से खचित खजाने पर 'डाका' डाल ही तो दिया
थ त—इधर-उधर से दो-चार शब्द जुटा कर, ग्रंथकार बनने के हौसले
आकर, उनके रमणीय रत्नागार पर छापा मारने का—परम हास्यास्पद
करने का दुरसाहस दिखा ही तो दिया! उनके रमणीय रत्नराशि
र मचलते हुए हृदय की हसरतों को, घुट-घुट कर न रहने वाली अनन्त
ो को निकाल कर कागज रँगना आरंभ कर दिया। आगे जो
ो हो, क्योंकि अब तो—

> अँसुवन जल सींचि सींचि प्रेम बेलि बोई;
> अब तो बेलि फैल गई, आनँद-फल होई।

अस्तु, अश्रु-जल से अभिषिक्त भक्तहृदयोद्यान की प्रेमरूप अमर-बेलि
खिले, अधखिले अथवा बे-खिले कुछ उद्‌गारपुष्पों को, उनके ही सुयश-
रे मे पिरो कर यह हार तैयार किया है। उनकी अनुपम उक्तियाँ स्वरूप
कलेजे के टुकड़े को—उनकी सुमधुर आहों को, यत्र-तत्र से बटोर-
कर इकट्ठा किया है; उसमे मै अपना क्या समझूँ! अतः—

> निधौ रसाना निलये गुणानामलंकृतीनामुदधावगाधे;
> काव्ये कवीन्द्रस्य नवार्थतीर्थे या व्याचिकीर्षा ममता नतोस्मि।

विद्वद्‌वृन्द! प्रणयानुरोध के इस उद्दाम आनन्द मे उसकी गुनन गरूली
॥ -रूप प्रेम-मदिरा मे गर्क हो एक बात तो भूला ही जाता हूँ, वह यह
यार लोगो ने मेरे "प्रेम, नैम, रैंन, नैन, मौहन, सौंहन" आदि ब्रज-
।प। के शुद्धोचारण-अनुसार रूप उल्लेख करने पर मुझे जिन-जिन उपाधियो
अलंकृत किया है और आगे करेंगे, उसके लिए धन्यवाद! पर, जैसा कि
र्व, मैं एक दफे लिख चुका हूँ कि "हम रत्नाकरी आधुनिक स्टाइल के
नय नहीं है, उसके नवीन रूप के मायल नहीं; अपितु उसी प्राचीनता
पुजारी है, उसी स्वरूप के अभिलाषी है, नूतनता के नहीं।"

अंत मे "परस्पर प्रशंसन्ति अहो रूपमहो ध्वनिः" के अनुसार अपने

अभिन्न मित्र श्री वासुदेवशरण जी अग्रवाल, एम० ए० एल-एल० बी० का इस नाचीज "ग्रंथ" पर भूमिका स्वरूप दो शब्द लिखने पर तथा प्रकाशक जी को प्रकाशित करने के लिए साधुवाद देता हुआ पुनः पुनः यही कहूँगा कि इस ग्रंथ के लिखने का जो कुछ श्रेय है, जो कुछ प्रशंसा है, वह "श्री वियोगी हरिजी" को है, मुझे नहीं; क्योंकि यह उन्हीं की चीज थी, मैं ने तो "श्री वाचस्पति मिश्र" की निम्न अनुपम उक्ति का—

क्रूराः । कृताञ्जलिरयं बलिरेष दत्तः
कायो मया प्रहरतात्र यथाभिलाषम् ;
अभ्यर्थये वितथवाङ्मयपांशुवर्षै—
र्मा माविली कुरुत कीर्तिनदीः परेषाम् ।

—जरा भी खयाल न कर इसे खूब उलटा और बिगाड़ा है, कुरूप करने का बलात् दुस्साहस किया है । पर—

बररे बालक एक सुभाऊ ;
इनहिं न संत विदूषहि काऊ ।

समझ कर जो कुछ दुराग्रह किया है, जो कुछ अनधिकार चेष्टा की है, उसे "क्षम्यतां परमेश्वरः" समझ कर क्षमा करें ।

मथुरा,
होली १९९०

जवाहरलाल चतुर्वेदी

प्रकाशकीय निवेदन

प्रायः दो वर्ष का समय हुआ कि मेरे मन में यह विचार तरंगित हुआ कि "भक्त और भगवान" नाम से एक ऐसी पुस्तक प्रकाशित की जाय, जिससे प्राचीन कवियों के भव्य भावनामय भावों की सुन्दर समालोचनामय सरस-सूक्तियो का अनुपमेय संग्रह हो। मैंने अपना उक्त विचार श्री वियोगी हरि जी के पास लिख भेजा। उन्होंने सहर्ष लिखना भी स्वीकार कर लिया। मैंने पत्रं पुष्पं उन्हें भेज भी दिया, किन्तु यह जीवन का सर्व प्रथम अनुभव था, जब कि बड़े आदमी के साथ मैंने ऐसा सम्बन्ध किया! कुछ दिनों बाद "देर आयद दुरुस्त आयद" का सदुपदेश मिलने लगा। इस उपदेश ने एक वर्ष का समय नष्ट कर दिया। पुस्तक का विज्ञापन किया जा चुका था, कई सौ आर्डर भी आ चुके थे, अन्त में जब मैंने उनसे प्रार्थना की, कि आप अन्तिम उत्तर मुझे दीजिये कि कब तक पुस्तक देंगे, तो उन्होंने स्पष्ट नाहीं कर दी। मैं तो बौखला उठा। अन्त में यह कहना अत्युक्ति न होगी कि ब्रज-भाषा-साहित्य-महार्णव श्रीयुत पं० जवाहरलाल जी चतुर्वेदी ने मुझे बड़ा सहारा दिया। किन्तु वे भी कम नहीं हैं। हैं तो मस्त ब्रजवासी ही! बड़े अनुनय-विनय के पश्चात्, लम्बी लिखा पढ़ी के उपरान्त किसी प्रकार चार महीने बाद कार्ड मिला पुस्तक तैयार हो गई है, अमुक तिथि को आऊँगा। किसी प्रकार उनके दर्शन हुए। गर्मी सर पर थी, छपाई के सौन्दर्य का ध्यान था; किसी प्रकार जल्दी से जल्दी पुस्तक छाप डाली गई। संभव है, शीघ्रता के कारण प्रूफ-संशोधन में कुछ त्रुटियाँ रह गई हों, अतः सहृदय पाठक और विद्वान् इसके लिए क्षमा करेंगे।

रचयिता—श्री समर्थ स्वामी रामदासजी

अनुवादक—बाबू रामचन्द्र वर्मा

जिस तरह उत्तर भारत में रामायणका प्रचार राजासे लेकर रंक की झोपड़ी तक है, उसी तरह इस पुस्तकका प्रचार दक्षिण भारतमें है। इस ग्रन्थ-रत्नमें आप धार्मिक, सामाजिक, पौराणिक तथा राजनीतिक इत्यादि जिस विषयका उपदेश चाहेंगे, वही पूर्ण रूपसे मिलेगा। ये उपदेश वही हैं, जो स्वामीजी शिवाजी महाराजको दिया करते थे। इन्हीं उपदेशोंका यह फल है कि आज महाराज शिवाजीकी गणना संसारके महान् पुरुषोंमें की जाती है। इन उपदेशोंका ढंग आजकलकी तरह नहीं, किन्तु एक विलक्षण ही ढंग है, जो हृदय पर तीरकी तरह अपना काम करते हैं।

पुस्तकके कितने ही संस्करण हाथोहाथ बिक गये हैं। यह ग्रन्थ बालकोंके वास्ते शिक्षाका भंडार, नवजवानोके वास्ते जीवन-पथ-प्रदर्शक तथा बुड्ढोंके वास्ते स्वर्गकी कुञ्जी है। पृष्ठ-संख्या ५००, मोटा चिकना कागज, सुंदर छपाई तथा पक्की जिल्द। मूल्य २)

भक्त
और
भगवान
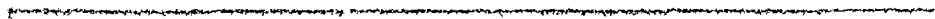
राग-सारंग

जो सुख होत भक्त-घर आऐं ;
सो सुख होत नहीं बहु-संपति, बाँझहि बेटा जाऐं ।
जो सुख होत भक्त-चरनोदक पीवत, गात लगाऐं ;
सो सुख सपनेहूँ नहिं पैयतु, कोटन-तीरथ न्हाऐं ।
जो सुख भक्तन कौ मुख देखति, उपजत दुख बिसराऐं ;
सो सुख होत न कामहि कबहूँ, कामिनि उर लपटाऐं ।
जो सुख कबहुँ न पैयतु पितु-घर, सुत कौ पूत खिलाऐं ;
सो सुख होत भक्त-बचननि सुनि, नैंनन-नीर बहाऐं ।
जो सुख होत मिलत-साधुन सौं छिन-छिन रंग बढ़ाऐं ;
सो सुख होत न नैंकु "व्यास" कौं लंक, सुमेरहु पाऐं ।

—व्यासजी की वाणी

भक्त और भगवान

ये मुक्ता वयि निःस्पृहा प्रतिपद प्रोन्मीलदानन्ददाम्,
यामास्थाय समस्तमस्तकमणि कुर्वन्ति यं स्वे वशे।
तान्भक्तानपि तां च भक्तिमपि तं भक्तिप्रियं श्री हरिम्,
वन्दे सन्ततमर्थयेऽनुदिवसं नित्यं शरण्यं भजे ॥

— कस्यचित् कवेः

ओह ! देखो न, इन ज्ञानियों ने कैसा बखेड़ा मचा रखा है; जो व्यवहार और परमार्थ में जमीन आसमान का अन्तर उपस्थित कर पृथकता की प्रभा से प्रस्फुटित कर रखा है—विलगता की बहार से विलुलित कर विपुल बढ़ावा दे रखा है। हजरत फर्माते हैं—भैया ! व्यवहार आपस मे होता है पर के प्रति नहीं; इसलिये यह संसारी है, असार है और परमार्थ ! परमेश्वर के प्रति प्रयुक्त होता है—उसी के प्रसंग मे प्रचलित होता है। और तो और वहाँ बेचारे मन और वाणी की भी पहुँच नही जो कि—

"एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म"

का वर्णन कर सके। लेकिन हमे तो जितने पहुँचे हुए उस्ताद मिले, उन सबने एक स्वर से यही सिखाया—यही तालीम दी कि भैया ! जो बात व्यवहार मे होती है, वही परमार्थ मे भी।

स्वारथ, परमारथ हित एक उपाय;
सियाराम पद 'तुलसी', प्रेम बढाय।

—बरवै रामायण

अर्थात् दोनों एक ही है, एक ही बात के पृथक्-पृथक् पहलू हैं, एक ही दरख्त की दो डाले हैं। दोनों एक ही कसौटी पर कसे जाते है—परखे जाते हैं ❀।

सच्च बात तो यह है कि हमारा "परमेश्वर" हमसे विलग नही है—परे नही है, वह तो हमारे मन-वाणी के नित्य नूतन-निकुंज में निरंतर बिहार किया करता है। अतएव वह स्तुति भी सुनता है और साथ-ही-साथ गालियाँ भी। गालियों के प्रसंग पर एक बात याद आ गयी—एक दिन प्यारे को कोई गाली देने वाला अथवा भला-बुरा कहने वाला न मिला, तब आपको कुछ नयी शरारत सूझी। अस्तु। तुरत गोपी-रूप धारण कर मैया से जाकर कहने लगे—

सुनि ले जसोदा-रानी ! तू "लाल" की बड़ाई ;
सब लोक-लाज वानै, जमुना मै धोइ बहाई।
सुनि ले जसोदा-रानी !...

भोरहि जो मै गयी री ! जल भरिवे काज भैना ;
पीछे सौ आइ अचानक, उन मूदे मेरे नैना।
डरपी मै हाइ को है, तब बोले टेढ़े बैना ;
हौ तौ रही इकेली, वा संग ग्वाल-सैना ॥

❀ भारतेन्दु जी कहते हैं इन बातों ही मे कुछ सार नही हैं। ये फिजूल के झगड़े हैं, वह तो इन सब बातों से बाहर है—

नाहिं इन झगड़ेन मैं कछु सार ;
क्यौं लरि-लरि कै मरो बावरे ? बादन फोरि कपार।
कोउ पायौ के तुम ही पैहौ, सो भाँखौ निरधार,
'हरीचंद' इन सब झगरेन सौं बाहर है वह यार।

—जैन कुतूहल

तब सब नैं हो-हो करि कैं, तारी मेरी बजाई;
सुनिलै जसोदा-रानी ! तू "लाल" की बड़ाई ॥

हँसि-हँसि कैं छैल ! मोसौं, करिबे लगौ ठठोली;
यह छवि तिहारे मुख की, अब का सौं जावै तोली।
निरखै कभू बदन कौं, कबहू छुवै वौ चोली;
मैं तो सकुच की मारी, वासौं कछू न बोली ॥

पुनि बहियाँ मेरी झटकी, गागर-धरनि गिराई;
सुनिलै जसोदा रानी ! तू "लाल" की बड़ाई ॥

ज्यौं-ज्यौं कहौं मैं हटरे ! त्यौं-त्यौं ही दूनौं अटकै;
मुसिक्यावै, दृग-मिलावै, भृकुटी-चलावै, मटकै।
करि-करि कैं सैंना-बैंनी, तन परसै, चीर झटकै;
अब और का कहौं मैं❀ गलहार ह्वै कैं लटकै ॥

इक संग वानैं ऐसी पकरी निलज्जताई;
सुनिलै जसोदा रानी ! तू "लाल" की बड़ाई।

अँगिया के बंद तोरे, चूनर झड़ाक फारी;
दुलरी के निरखिवे कौं, गलवैयाँ मेरैं डारी।
यह सब कुचाल देखै, मग-ठाड़े पुरुष-नारी;
इतने पै नाम लै-लै, मो कौं सुनाई गारी ॥

गुरु-जन मैं मेरी वानैं, या विधि करि हँसाई;
सुनिलै जसोदा रानी ! तू "लाल" की बड़ाई।

कबहूँ कहै बतारी ! तू क्यौं इकेली आई;
का घर मैं तेरे पति की तोसौं भई लराई।
तू चल भवन हमारे, करि मोसौं मित्रताई;
बिधिना नैं तेरी-मेरी जोरी भली बनाई ॥

❀ और जो कुछ इससे बाकी रहा हो उसकी भी बेबाकी कर दीजिये, वरना ऐसा मौक़ा बार-बार हाथ नहीं आने का।

वातैं "नराइन" वाकी सुनिकैं मैं अति लजाई ;
सुनिले जसोदा रानी ! तू "लाल" की वड़ाई ।

वाह ! क्या नटखटपन भरा अजूबा अन्दाज है । कितना फबन-फबीला फितनापन है वाह !······और फिर आपकी जबान्दराजी ? आह, क्या पुरदर्द है ।

मुझको मजा है छेड़ का, दिल मानता नहीं ;
गाली सुने बग़ैर, सितमगर कहे बग़ैर ।
—कोई शायर

और लो—श्रीदामा, तोष प्रभृति सखा, श्यामसुन्दर के साथ "कालिन्दी-कूल" पर कन्दुक-क्रीड़ा खेल रहे थे ! अस्तु—

स्याम ! सखा पै गैंद चलाई ;
श्रीदामा मुरि-अंग बचायौ, गैंद गिरी काली-दह जाई ।

फिर क्या था—

धाइ गही तब फेंट स्याम की, देहु न मेरी गैंद मँगाई ;
और सखा-सम जिनि मोहि जानहु, मोसौं मति तुम करौ ढिठाई ।

क्योंकि—

जानि-बूझि तुम गैंद गिराई, अब दीन्है ही बनै कन्हाई ;
"सूर" सखा सब हँसत परस्पर, भली भई हरि-गैंद-गिराई ।

इस पर आप बिगड़कर बोले—

फैंटि, छाँडि देहु श्रीदामा ;
काहे कौं तू रारि बढ़ावत, तनक बात के कामा ।
मेरी गैंद लेहु ता बदलै, बाँह गहत कत धाई ;
छोटौ-बड़ौ न जानत काहू ❀ करत बराबर आई ।

❀ आप तो इसके बड़े पाबन्द हैं ।

यह "बोल" श्रीदामा से न सहा गया, आखिर बराबर का तो था ही; झट अकड़कर कहने लगा—

हम काहे कौं तुम्हहिं बराबर, बड़े नंद के पूत ;
"सूर" स्याम दीन्है ही बनिहैं, बहुत कहावत "धूत" ।

उफ ! धूत कह दिया, धत् तेरे श्रीदामा की ! बातों ही बातों मे क्या वितण्डावाद बिखेर दिया । जाने दीजिये साहब ! आपही जाने दीजिये न। इन लोगों को मुँह भी तो आपने ही लगा रखा है और फिर इसने कोई नई बात भी नही कही, जिस पर आप इतना बिगड़ने की बहार दिखला रहे है, जैसे—

तोसौ कहा "धुताई" करिहौ ;
जहाँ करी तहँ देखी नाहीं, का तोसौ मैं लरिहौं ।
मुख सँभारि तू बोलत नाँहीं, करत बराबर बात ;
पावहुगे अपनौ कियौ सब, रिसन कँपावत गात ।

पर श्रीदामा कब चूकनेवाला था ! वह कब कुछ सहनेवाला था ! तुरत जवाब देही तो डाला—

सुनहुँ स्याम तुम्हहूँ सर नाँहीं, ऐसे गए बिलाई ;
"सूरज" प्रभु हमसौं सतरत हौ, कमल देहु किन जाई ।

एक फतवा और लो—

खेलत मैं को काकौ गुसैयाँ !
हरि हारे, जीते श्रीदामा, बरबस ही कत करत हँसैयाँ ।
जात-पाँत हमसौ बड नाहीं, ना हम बसत तिहारी छैयाँ ;
अति अधिकार जनावत यातै, अधिक तिहारैं गैयाँ ।
रूँगट करत को तासौं खेलै, रहौ सखा सब ठाँ-के-ठैयाँ ;
"सूरदास" प्रभु खेल्यौई चाहैं, दाव दयौ करि नंद-दुहैयाँ ।

प्यारे ! आपका कुछ फबन-फबोला फजीता करने की मन में

और आ गयी है—कुछ गालियाँ सुनाने की और दिल में समा गयी है पर भैया ! सुनना; खीझना मत—

सुन्दर, स्याम सुजान सिरोमनि ! देहुँ कहा कहि गारी हो ;
बड़े लोग के औगुन बरनत, सकुच उठत मन-भारी हो।
को करि सकै पिता कौ निरनै, जाति-पाँति को जानैं हो ;
जाके मन जैसी आवत है, तैसीय भाँति वखानै हो।
माया कुटिल नटी चितवत सब, कौंन बड़ाई पाई हो ;
हरि चंचल सब जगत विगोयौ, जहं-तहँ भई हँसाई हो।※
तुम पुनि प्रगट होइ बारे तैं, कौंन भलाई कीनीं हो ;
मुक्ति-वधू उत्तम जन लाइक, सो अधमन कौं दीनीं हो।
धरि दस मास गरभ माता नैं, इहि आसा करि जाए हो ;
सो घर छाँड़ि जीभ के लालच, भए जु पूत पराए हो।
बारे तैं गोकुल गोपिन के सूने घर तुम डाटे हो ;
पैंठे तहाँ निसंक रंक लौं, दधि के भाजन चाटे हो।
आपु कहाइ धनी के ढोटा, भात कृपन लौं माँग्यौ हो ;
मान-भंग पै दूजैं जाँचतु, नैंकु सँकोच न लाग्यौ हो।
लोलुपता तैं गोपिन के तुम, सूने भवन ढँढोरे हो ;
जमुना न्हात गोप-कन्यनि के, निलज-निपट पट चोरे हो।
बैंनु बजाइ विलास करत बन, बोलि पराई नारी हो ;
ते बातैं मुनिराज सभा मैं, ह्वै निसंक बिस्तारी हो।

※ रहीम ने भी कुछ ऐसा ही पुर-मजाक लक्ष्मी का चंचलपन वर्णन किया है।

कमला थिर न रहीम कहि, यह जानत सब कोइ ;
पुरुष पुरातन की तिया, क्यौं न चंचला होइ।

सब कोऊ कहत नंद बाबा कौ, घर भरयौ रतन अमोले हो ;
गर-गुंजा, सिर मोर पखुवा, गायन के सँग डोले हो।
साधु सभा मैं बैठनिहारौ कौन तियन संग नाँचे हो ;
अग्रज संग राज-मारग मैं कुबजहि देखत लाँचे हो।
अपनि सहोदरि, आपुहि छल करि, अरजुन संग नसाई हो ;
भोजन करि दासी-सुत के घर, जादव-जाति लजाई हो।
लै लै भजे नृपन की कन्या, इहि धौ कौन बड़ाई हो ;
सतभामा गोत की व्याही, उलटी-चाल चलाई हो।
बहिन पिता की सास कहाई, नैकहुँ लाज न आई हो ;
ऐसिय भाँति बिधाता दीन्ही सकल लोक ठकुराई हो।
मौंहन, बसीकरन, चट, चेटक, मंत्र-जंत्र सब जानै हो ;
तातैं भले, भले सब तुमकौ, भले, भले करि मानै हो।
बरनौं कहा जथा मति मेरी, बेदहु पार न पावै हो ;
"भट्ट गदाधर" प्रभु की महिमा, गावत ही उर आवै हो।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी भी कुछ ऐसी ही मनोरंजक बिरुदावली सुनाते हैं—

आजु है "होरी" लाल-बिहारी ;
आजु तोहि हम देहै नई-गारी।
तोहि "गारी" का कहि दीजै ;
अगनित-गुन क्यौं गनि लीजै।
तेरे चंद-बंस कौ धारी ;
जानैं भोगी गुरु की नारी।
तासौं बुध भयौ संकर-जाती ;
जासौं तेरे-कुल की पाँती।

तेरी कुल-जननी इला-रानी ;
तामैं दोऊ सुख मुददानी।

तेरी वेस्या सी कुल-माता ;
जाकौ नाम उरवसी-ख्याता।

जदुराज बड़े हैं ज्ञानी ;
अपनी दई न नैकु जवानी।

तेरौ कंसराइ सौ मामा ;
तेरी माइ करी वे-कामा।

तेरी रोहिनि तजि घर-वारा ;
अव व्रज मैं करत विहारा।

तेरौ नंद वहुत-जस पायौ ;
जिन विरधापन मैं सुत जायौ।

तुम सकल गुनन के पूरे ;
नट, बिट सब ही विधि सौं रूरे।

इमि कहत, हँसत व्रज-नारी ;
"हरीचंद" मुदित गिरधारी।

कहिये साहब ! देखा आपने, आपके नटखटपन का निराला और अजूबा अन्दाज़ ! पहिले गालियाँ खाने का ख़्वाहमख़्वाह खयाल करना, फिर खाना और फिर रूठ जाना; अंत में आपही आप मान जाना। इन्हीं बातों को तो देख कर हम कहते हैं कि जिस तरह वह "स्तुति" सुनने की इच्छा रखता है, उसी तरह गालियाँ खाने की ख़्वामखयाली में भी गर्क रहना चाहता है।

गालियाँ खाने की ख़्वाहिश पर श्रीआनदघनजी क्या अच्छा फर्माते हैं—

दसन, बसन बोली भरियै रहे गुलाल,
हँसनि लसनि त्यौं कपूर सरस्यौ करै ;
साँसन सुगन्ध सौंधे कोटिक समोद धरे,
अंग अंग रूप रंग रस वरस्यौ करै।
जानप्यारी तो तन "अनन्दघन" हित नित,
अमित-सुहाग गग फाग दरस्यौ करै ;
इते पै नवेली लाज अरस्यौ करै जु प्यारौ—
मन-फगुवा दै गारी हूँ कौ तरस्यौ करै।

अस्तु, वह अपने भक्तों-द्वारा हा-हा करवाने की भी इच्छा करता है, तो साथही उनके मान की मिठाई चखने से भी मुँह नहीं मोड़ता।

बनने, बिगडने, रूठने, हँसने मे लुत्फ़ है ;
जबतक कि छेड़छाड़ न हो, कुछ मज़ा नही।
—कोई शायर

हम कोई शिष्ट वा सभ्य परमेश्वर के उपासक नहीं हैं, वह हम पर शासन नही करता; अपितु हम तो उसकी गोद में खेलते हैं, वगल में रहते हैं और जब मन मे आता है तब मनमानी भी सुना दिया करते हैं—मौके-बे-मौके छेड़-छाड़ भी कर दिया करते हैं। वह भी बेचारा चुप-चाप सब कुछ सुन लिया करता है। अधिक क्या कहा जाय, वह तो हमारा प्यारा-सलाहकार है—सहवासी यार है। फिर यहाँ क्या व्यवहार और क्या परमार्थ ? जब किसी का भय हो तब तो द्विविधा के चक्कर मे पड़े। जो दो परमेश्वर को माने वह उसके डर से डरा करे*—काँपा करे, हमारा तो एक वही है। और हम भी उसी के हैं।

* हम तो एकही कर माना।

कारण कारज ले न्याय कहै,
ज्योतिष-मत रवि, गुरु शशी कहा ;
जाहिद ने हक्क, हुस्न, यूसुफ़,
अरहंत जैन छवि बसी कहा।
रतराज, रूप-रत, प्रेम ईश,
जानी छबि शोभा लसी कहा ;
लाला ! हम तुझ को समझ लिया,
जो ब्रह्म-तत्व-त्वं-असी कहा।

अथवा—

तुम चरण-शरण में पड़े हुए,
तेरे ही गुण को गुनते हैं ;
तुझ विन यह जगत सुजान जीव,
हम पड़े शीश को धुनते हैं।
निर्गुण सगुण की लहर उठे,
ताना-बाना सा बुनते हैं ;
जानी ! तुमको हम समझ लिया—
सब तज, हरि-भज सुनते हैं।

—शीतल

अजी बस ! कुछ न पूँछिये, भक्तों के मारे भगवान को भी नाकोंदम आ गया। ओह ! बेचारे को ज़रा-ज़रा-सी बात पर ऐसी टेढ़ी-सीधी सुननी पड़ती है कि कुछ कहा नहीं जाता—

दोय कहै ताकों दुविधा है, जिन हरनाम न जाना।
एकहि पवन, एकही पानी, एकही जोति संसार समानी ;
एक मट्टी के घड़े-घडोले, इक उपजावन बखाना।
माया देख कर जगत भुलाना, काहे रे नर तू गरवाना ;
"कहैं कबीर" सुनौ भाई साधो, हरिके हाथ बिकाना।

"अति बरखैं, अनबरखै हूँ दैहि देवही जारि",

भगवन् ? मन मे सोचा होगा कि लोग-बाग सृष्टि रचने के अनन्तर हमारी आज्ञानुसार चलेगे, हमारी मर्जी के मुताबिक कार्य करेंगे, हमारे मुँह को इकटक जोहते रहेगे—हम भी जिस तरह चाहेगे उसी तरह उन्हे नाच-नचावेंगे, सो कुछ न हुआ और उलटे श्रीमान को ही अपने भक्त-जनो के पीछे-पीछे चलना पड़ा, उन्ही के मुख को—

"तेरो मुख-चन्द चकोरी मेरे नैना"

की तरह टुकुर-टुकुर देखना पड़ा। बेवसी की रस्सी से बँधे हुए उन्हीं के कदम पर क़दम रखना पड़ा क्योंकि—

जनन सौं कबहू नाहिं चली;
सदा, सरवदा हारत आए, जानत भाँति भली।
कहा कियौ तुम बलि राजा सौं चतुराई न चली;
बाँधन गए, बँधाए आपुहिं व्यर्थ हि बने छली।
भीषम नैं परितिज्ञा टारी, चक्र गहायौ हाथ;
अरजुन कौ रथ हाँकत डोले, रन मैं लीऐं साथ।
जसुदा जू सौं हाथ बँधाए, नाँचे माखन काज;
'मैं रिनियाँ तुम्हरौ' गोपिन सौं कह्यौ छाँडि कैं लाज।
रिनि बहु जानि छाँड़िकै गोकुल, भागे मथुरा जाइ;
सदा, सरवदा हारत आए, भक्तन सौं व्रजराइ।
हमसौं हूँ हारत ही बनिहैं. कबहुँ न जइहौ जीति;
तासौं तारौ "हरीचंद" कौं मानि पुरानी प्रीति।

—प्रेम प्रलाप

और न रखेंगे तो गालियाँ खायँगे, झिड़कियाँ सुनेंगे और फबन-फबीली फबतियों की तो बात ही छोड़िये।

दिल को खुद छेड़े जो वह तिर्छी-नजर तो क्या करूँ ;
चैन से रहने न दे, दर्दे-ज़िगर तो क्या करूँ ।

अथवा—

असर है ज़ज्बे-उलफ़त मे तो खिचकर आही जायँगे ;
हमे परवाह नही हमसे अगर वह तन के बैठे हैं ।

—पर प्यारे ! यदि गालियाँ बुरी लगती हैं तो यह सब आडम्बर ही क्यों रचा, यह सिर पर बखेड़ा ही क्यो उठाया, किसने यह दर्दे-सर-मोल लेने को कहा था ?

तुम समझलो, सोचलो, ताड़लो, पहिचानलो ;
बात अपने दिल की मै, अपनी ज़वाँ से क्या कहूँ ।

—कोई शायर

—केवल आपही अकेले मनमानी मौज मनाया करते, आपही रूठते, आपही मानते, और आपही मनाया भी करते। वाह! कैसा मजा आता ! पर—

गो बज़ाहिर तर्क थी उल्फ़त, मगर जब आ गये ;
शौक़ तनहा पाके दिल मे चुटकियाँ लेने लगा ।

—कोई शायर

वाह साहब ! नाटक खेलने का शौक भी—हबस भी और निर्लिप्त, निर्विकार, निःसंग आदि नाम धारण करने का, उपाधि आलिङ्गन करने का ख़याल भी ? वाह जनाब ! दोनो बातें एक साथ कैसे निभेगी ?

एकु संग नहि होहि भुवाला ;
हँसब ठठाइ, फुलाउब गाला ।

—रामचरितमानस

अथवा—

करना चाहे आशिकी और ख्वालाजी का डर ?।

—नागरीदास

—पर भगवन् ! सच पूछिये तो आपकी इस सृष्टि रचना के अनन्तर, इस धराधाम पर आपके अवतीर्ण होने से आपके नाम भी सुधर गये—उनमें भी मनोहरता आगयी।

छाँड़ि कै ऐसे मीठे-नाम ;

मित्र, प्रान-पति, पीतम, प्यारे, जीवनधन, सुखधाम।
क्यों खोजत जग और नाम सब, करि कै जतन-अनेकु ;
ईस्वर, ब्रह्म-नाम हौवा से, जिनमें नाहिं सुख एकु।
तजि कै वे कोमल-पद-पंकज, भजत नाहिं जिनपालु,
"हरीचंद" क्यों नाहक भटकै, धारि अनेक जु आलु।

अथवा—

ब्रज सम और न कोऊ धाम ;

या ब्रज मैं परमेसुर हू के, सुधरे सगरे-नाम।
कृष्ण-नाम हरि सुन्यौ गर्ग तें, कान्ह, कान्ह कहि बोलैं,
बाल-केलि-रस मगन भए सब, आँनद-सिंधु कलोलैं।
जसुदा-नंदन, दामोदर, नवनीत-प्रिय दधि-चोर,
चोर, चोर, चित-चोर चिकनियाँ, चातुर नवल-किसोर।
राधा-चंद-चकोर साँवरौ, गोकुल-चंद दधि दानी,
श्रीवृन्दावन-चंद चतुर चित, प्रेम-रूप-अभिमानी।

* इतै रावरी चाहैं कुल की कुल-कानि, उतै नँद-नंदन ध्यावती हैं ;
निज गैल मैं आनि कहूँ सो कहूँ, न भरोसन भा न पावती है।
"कवि ठाकुर" है न बनाव कछू, दुबिधा मिलि स मैंबावती है ;
चहैं आसिकी औ डरु गायन कौ, कहौ द्वै-द्वै काम ?।

राधा-रमन, सु राधा-वल्लभ, राधा-कांत रसाल,
वल्लभ-सुत, गोपी-जन-वल्लभ, गिरिवरधर-छवि-जाल।
रासविहारी, रसिक-विहारी, कुंज-विहारी, स्याम,
बिपिन-विहारी, वंक-बिहारी, अटल-विहार-अभिराम।
छैल-विहारी, लाल-विहारी, बनचारी रसकंद,
गोपीनाथ, मदन-मोहन पुनि, वंसीधर गोविंद।
व्रज-लोचन, व्रज रमन मनोहर, व्रजउत्सव व्रजनाथ,
व्रज-जीवन, व्रज-वल्लभ सब के, व्रज किसोर सुभगाथ।
व्रज-भूपन, व्रज-मोहन, सोहन, व्रज-नाइक, व्रज-चंद, ,
व्रज-नागर व्रज-छैल-छवीले, व्रजवर श्री नँद-नंद।
व्रज-आनँद, व्रज-दूलह नित ही, अति सुन्दर व्रजलाल,
व्रज-गोवन के पाछैं आछे, सोहत व्रज-गोपाल।
व्रज-संबन्धी नाम लेतिए व्रज की लीला गावै,
"नागरिदास" हि मुरली वारौ व्रज कौ ठाकुर भावै।

—नागरीदास

जो कुछ भी हो, तुम्हे सब सामर्थ्य है। तुम्हारी नाट्य-कला ही अद्भुत है, माया ही विलक्षण है।

भगवत-माया पर भारतेन्दुजी की कैसी सुन्दर "फबती" है—

हरि-माया-भठियारी ने, क्या अजब-सराय बसाई है,
जिसमें आकर बसते ही, सब जगकी मति बौराई है।
होके मुसाफिर सब ने जिसमें, घरसी नींव जमाई है,
"भाँग पड़ी कुए मे" जिसने पिया बना सौदाई है।
सौदा बना भूर का लड्डू, देखति मति ललचाई है,
खाया जिसने वह पछताया, यह भी अजब मिठाई है।
एक, एक कर छोड़ रहे है, नित-नित खेप लदाई है,
जो बचते सो यही सोचते, उनकी सदा रिहाई है।

अजब भँवर है जिसमे पड़कर सब दुनियाँ चकराई है,
"हरिचंद" भगवन्त-भजन बिनु हमसे नही रिहाई है।

श्री 'सूर' भी कुछ ऐसा ही कहते हैं—

हरि तेरी माया को न बिगोयौ ;
सौ-जोजन मरजाद सिन्धु की, पल मैं राम बिलोयौ।
नारद मगन भए माया मैं, ज्ञान, बुद्धि-बल खोयौ ;
साठ-पुत्र अरु द्वादस-कन्या, कठ लगाऐं जोयौ।
सकर कौ चित हर्‌यौ कामिनी, सेज छोड़ भुंव सोयौ ;
जारि मोहनी आढि-आढि करि, तब नख-सिखतैं रोयौ।
सौ भैया राजा दुरजोधन, पलमै गरद-समोयौ ;
"सूरज" प्रभु काँच अरु कचन, एकुहि धगा पिरोयौ।

हाँ तो भैया ! तुम विचित्र और तुम्हारी रचना भी विचित्र, वाह ! क्या जैसे को तैसा मिला है। कैसा अनुरूप ढाँचा ढला है❀। अस्तु; भगवन् ! इसीसे तो हम आपको अपने से पृथक् नहीं समझते—अलहिदा की अलविदाई नही करते। अजी हमारा आपका तो हमेशा का व्यवहार है, जन्म-जन्म का नाता है, सदा से बनती चली आई है; इसी बल पर तो तुम्हारे भक्तो—उपासकों-ने तुम्हे न जाने क्या-क्या टेढ़ी-मेंढ़ी और मनोहर बिपुल बातें नही कह सुनायीं। क्योंकि —

अजीब लुत्फ़ कुछ आपस की छेड़-छाड मे है,
कहाँ मिलाप में वह बात, जो बिगाड़ में है। —कोई शायर

❀ उक्त उक्ति पर अकबरावादी अकबर साहब का क्या ही सुन्दर शेर याद आ गया है—

अपनी ही यह खता है, हमने तो खूब जाँचा ;

सरकार ! सबसे पहिले तो आपके साथ व्यवहार करना ही कुछ कम कठिन नहीं है—लौ लगाना ही सहल नहीं है। कच्चे कलेजे वाले तो—

सख़्त फत्तर से ज़ियादह है तेरा दिल......"

देख कर "नास्तिक" बन बैठते हैं और कुछ सज्जन लज्जा के मारे, आस्तिकता के नाते, निराशा के पहाड़ से सर टकरा रहे है।

'आशा' पर श्री भगवत-रसिकजी की एक बड़ी सुन्दर-वाणी याद आ गयी है—

आसा जाकी जहँ बसी, तहँ ताही कौ वास ;
गेही होइ बिरक्त कै, कै स्वामी, कै दास।
कै स्वामी कै दास, महातम सब कहिबे कौ,
"भगवत-रसिक" अनन्य वचन जुग-जुग गरिबे कौ।
तजै निवृत्त, प्रवृत्त, रहै नित तिनके पासा,
नित्य बिहार-अखंड मिलन की जिनि कौ आसा।

—पर इन लाखों मे विरला ही ऐसा होगा जो आपकी यन्त्रणाओ से युक्त झिड़कियाँ झड़-झड़ाने पर भी आदि से अन्त तक अपनी आन पर डटा रहा हो, तुम्हारी प्रेम-परीक्षा में पास होने के लिये आशा ही आशा में खड़ा रहा हो। क्योंकि—

कहिए अबलौ ठहर्यौ कौन,
सोई भाग्यौ तुब साम्हे सौं, गयौ परिछ्यौ जौंन।
नारद, बिस्वामित्र, परासर, महा-महा-तप-खानि,
असन, बसन तजि बन मै निवसे, जन कहँ कंटक जानि।
तिनहूँ की जब भई परिच्छा. तब न नैकु ठहराए,
माया-नटी पकरि तिनहूँ कहँ, पुतरी से नँचवाए।
तौ जे जग मैं बसत विषय के कीट पाप मै पागे,
तिनकौ तुम परखन का चाँहत, हम तौ अघ-अनुरागे।

अपुनौं बिरदु समुझि करुना-निधि, निज गुन-गनहिं बिचारी,
सब बिधि दीन-हीन "हरिचंद"हि लीजै तुरत उधारी।

—प्रेम-प्रलाप

और आपके—

जिन पद नख की दुति कछुक, ध्वै गई ही जल साथ,
तिहि कन मिलि दधि-मथत मैं, चन्द्र भयौ है नाथ।

—कोई कवि

—से श्रीचरणों पर अपना मस्तक सहर्ष न चढ़ा चुका हो, क्योंकि—

सुनि लाल-विहारी ललित ललन?
फूलों की गेंदें खेलेगा,
सनमुख यह देह निशाना है—
दिलजान कहाँ तक पेलेगा।
आखों से आखें भिड़ी रहैं
इस रूप, रंग को झेलेगा,
यह मज़ा उसी को मिलता है
जो 'ख़ाक' शीश पे सेलेगा। —शीतल

अथवा—

आसा-गुन बाँधिकैं, भरोसौ-सिल धरि छाती,
पूरे-पन-सिन्धु मैं न बूड़त सकाइहौं।
दुख-द्रव हिय जारि, अन्तर उदेग-आँचि,
रौम-रौम त्रासन निरंतर तचाइहौं॥
लाख-लाख-भाँतिन की दुसह-दसानि जानि—
साहस सहारि सिर आरे लौं चिराइहौं,
ऐसैं "घनआँनद" गह्यौ है टेक मन माँहि—
एरे "निरदई"! तोहि दया उपजाइहौं॥

श्रीसूर ने भी तो अंत-समय यही पुकार-पुकार कर कहा था—

भरोसौ दृढ इन चरनन केरौ ;
श्रीवल्लभ-नख-चंद-छटा विनु, सब-जग माँहि अँधेरौ ।
साधन और नाहि या कलि मै, जासौ होत निवेरौ ;
"सूर" कहा कहै द्विविध-आँधरौ, विना मोल कौ चेरौ ॥

ललित-माधुरीजी ने भी इस भाव को खूब अपनाया है—

ललित-माधुरी पान हित, खंजन-दृग न सकात ;
घूंघट-पट-पिजरा फँदे, किहि मारग कढ़ि जात ।

और सच बात तो यह है भैया कि आप के साथ पार पा जाना कुछ सहज नहीं है; कुछ कम दुस्तर नहीं है, जैसे कि—

तिहारौ को पावै प्रभु ? पार ;
विपुल-सृष्टि नित-नव-विचित्र के, चित्रकार आधार ।
मकरी के सम जगत-जाल यह सृजत और बिसतारत ;
कौतुक ही मै हरत ताहि पुनि, बेद, पुरान-उचारत ।
जग मैं तुम औ तुम मैं जग सब, बासुदेव अभिराम ;
सकल-रग तन बसत आप के, याहीं सौं घनश्याम ।
परम-पुरुष तुम प्रकृति-नटी सँग लीला रचत अपार ;
जग व्यापन सौं 'विष्णु' कहावत, अचरज तउ अबिकार ।
जितने जात समीप, दूरि अति होत जात तब ध्यान ;
'सत्य' छितिज सम, तरसावत नित, बिस्वरूप-भगवान ।

—हृदय-तरग

—अस्तु, चाहे कोई जान ही क्यों न दे दे; पर आप टस-से-मस नहीं होते । इसी से तो कहा है—

लालन, नाहि नै री काहू के बस के ;
बावरी भई री तिया ! उन सौं मनु अरुझायौ, वे तौ सदाँई अपने रस के

निरखि, परखि, देखि जिय कौ भरम गयौ, कामिनी-वृन्दन के मन न कसके ;
तदपि कछू मौंहिनी "गोबिंद" प्रभु पै, जुबती-सभा मैं बदत जस-जसके ।
—गोविन्द स्वामी

अथवा—

चाह मे कोई मर भी मिटे, तो ख्याल मे कब लाते हो ,
गर्चे जहाँ मे मसीहा वक्त के तुम कहलाते हो ।
—प्रतापनारायण मिश्र

उफ, बड़े घमंडी हो ! क्या ज़रा-सी बात भी सुनने की फुरसत नहीं है ? अथवा—

"एक चुप, सत्तर बला टाले"*

वाली बात पर निर्भर हुए बैठे हो । भगवन् ! हम दरवाजे पर पड़े-पड़े चिल्लाया करें, नाहक शोर मचाया करें, खुशामद किया करें, पर श्रीमान के "कान" पर जूँ भी नही रेंगती; अथवा सुनकर भी अनसुनी कर जाते हो ।

रौम-रौम रसना ह्वै लहै जो गिरा के गुन ,
तऊ जानि प्यारे निबरै न मैंन आर तै ,
ऐसे दिन-दीन टीन की दया न आई दई ?
तोहि विष-भोयौ बिषम बियोग सर-मार तैं ।
दरस सुरस प्यास, भाँवरे भरत रहौ
फेरियै निरास मोहि क्यौं धौ यौ बछार तैं ;

* इस लोक-प्रसिद्ध उक्ति पर "रंजूर" ने क्या सुन्दर सूक्ति सूजी है—
इनसान के लिये जो है, जबान एक निआमत ;
लेकिन हैं फजूलगोई, एक वद-आदत ।
इनसान पर आफ़तें यह, लाती है मगर ;
टलती है एक चुप्प से, सत्तर आफत ।

जीवन-अधार "घनआनँद" उदार महा,
कैसे अनसुनी करत चातक पुकार तैं।

उर्दू के प्रसिद्ध शायर "कवी" ने कुछ ऐसे ही "गरूर" पर कैसी सुन्दर सूक्ति कही है—

चार दिन के हुस्न पर इतना ग़रूर;
चाँदनी होती है के-दिन के लिये।

अथवा—

क्यूं इज्ज़ो-हश्मवाले, मगरूर हुए इतने;
अंजाम—बलन्दी का, आख़िर वही है पस्ती।

—ज़ौक

जो "रहीम" पगतर परौ, रगरि नाक अरु सीस,
निठुरा आगे रोइबौ, आँसु गारिबौ खीस।

अथवा—

चरन छिएँ, मस्तक छिएँ, तेहु नहि छाँड़ति पानि;
हियौ छियत प्रभु छाँड़ि दैं, कहु "रहीम" कहा जानि।

अस्तु, जो कुछ हो, पर दस-पाँच पापियों को तार कर बड़ी धर्म की ध्वजा फहरा रखी है, लेकिन भैया! हमे तो विश्वास नहीं होता कि तुमने भी कभी किसी के साथ कुछ एहसान किया होगा? न मालूम—

कैसै तुम गनिका के औगुन गिने न नाथ?
कैसै तुम भीलनी के जूठे-बैर खाए हौ;
कैसै तुम द्वारिका मै द्रोपदी की टेर सुनी,
कैसैं तुम गज-काज नंगे-पैर धाए हौ।
कैसैं तुम सुदामा के छिन मैं दरिद्र हते,
कैसैं तुम उग्रसैन बन्दी तैं छुड़ाए हौ;

क्योंकि—

मेरी बेर, एती देर कॉन-मूँदि रहे नाथ !
दीन-बन्धु, दीना-नाथ काए पै कहाए हौ ।

यही नहीं, कुछ ऐसी ही शरूर भरी शिकायत "भारतेन्दु" जी भी अपनी प्रेम-माधुरी मे करते हैं—

दीन-दयाल कहाइ कैं, धाइ कै—दीनन सौं क्यौ सनेह बढायौ,
त्यौं "हरिचंद" जू बेदन मैं करुना-निधि नाम कहौ क्यौ गवायौ ।
ऐसी रुखाई न चाहिएँ तापैं कृपा करिकै जिहि कौं अपनायौ,
ऐसोई जो पै सुभाव रह्यौ तौ "गरीब-निबाज" क्यौ नाम धरायौ ।

बता दीजिये साहब ? बता दीजिये न कि कैसे आप दीनों के "बन्धु" और उनके "नाथ" बन गये अथवा गरीब-निवाज कहला गये, बताइये न ।

बेद, पुरान वखानत, अधम-उधार,
किहि कारन करुना निधि, करत बिचार ।

—रहीम

हाँ-हाँ नाहक विचार क्यों करते हो, इधर उधर क्यों ताकते हो । बगलें क्यो झाँकते हो । अजी हड़ताल फेर दी हड़ताल ।

"लगाऔ बेदन पै हरताल"
जिनि तुमकौं गायौ करुना-निधि, भगतन के प्रतिपाल ।
पतित उधारन आरति नासन, दीनानाथ, दयाल,
इन नामन कौ झूंठ करौ प्रभु ? छाँड़ौ सब जंजाल ।
देहु बहाइ लोक मरजादा, तोरि आपुनी चाल,
नाही तौ "हरिचद" हि तारौ बेगहि धाइ गुपाल ।

—प्रेम-मालिका

—अथवा इन नामों के साथ-साथ सारे जंजालों को तोड़ दो,

क्यों इन झूठे नामों के फेर में पड़ते हो; छोड़ दो, छोड़ दो! बस, सारी बला टल जायगी, फिर कोई टेढ़े-मेढ़े जवाब सवाल न करेगा और न कोई खरी खोटी ही सुनायेगा? परन्तु आप क्यों छोड़ने लगे। अच्छा न छोड़िये साहब! लेकिन यह क्या? यह पर्दा-फास कैसा? देखो, देखो भैया! जैसे कि—

गढ-लंक विभीषन कौं जु दई, निसंक ह्वै भेद बताइवे कौं,
गनिका जु तरी करि टेक रही, हरि नाम सुवा के पढाइवे कौं।
"अरि" विप्र सुदामा कौं दीनौ महा धन, दास प्रतिज्ञा बढाइवे कौं,
विना काज जो दीन पै दया करिऐ, तब जानिएँ "दानी" कहाइवे कौं।

—भडौआ-संग्रह

अस्तु। सुना साहब! यह क्या कहा गया? क्या कुछ इसका जवाब दीजियेगा, उफ्! नज़र क्यों झुकाये लेते हो, शर्माये क्यों जाते हो, मुँह क्यो फेर लेते हो?

इस अन्दाज़े-हया से और चोरी, खुल गयी दिल की;
कहा था तुमसे किसने? झेंपकर तिर्छी नज़र कर लो।

—जौक़

इस लजीली-लज्जा पर किसी शायर का एक 'शेर' याद आ गया है जैसे कि—

नीची-नज़रो से मुझे, आपने क्यों देखा था;
लोग तो और ही कुछ, समझे है शर्माने से।*

*लज्जा पर दो सवैया बडे सुन्दर याद आ रहे हैं जैसे कि—

जात चली वृषभानु-लली, हरि आइ गए दुपटी मैं छिपाइ कैं,
दै कुच पै पिचकारी छारक दै, हौ कहि जात रहे हिय लाइ कैं।
"गोकुल" खीझि कैं रीझि रही कछु चाह्यौ कह्यौ मुँह तै सतराइ कैं,
बोल कढौ न गरौं गरुऔ करि हारि सी हेरि न फेरि लजाई कैं।

—कुछ बताइये न, जवाब दीजिये न ? न दीजिये साहब, जवाब न दीजिये ? समझ लेंगे कि दीनबन्धु, दीनानाथ की पदवी अगर सेंत-मेत मिलती है, तो क्या हानि है ? क्योंकि—

"ऐसौ कौन लोभ नहिं जाके"

—जी हाँ। लोग तो उपाधि पाने को न जाने क्या-क्या किया करते हैं। कुछ आपने ही अनोखा नहीं किया ? पर—

लालच हू ऐसौ भलौ, जासौ पूरै आस ;
चाटैं हूँ कहूँ ओस के, मिटी काहु की प्यास।

—वृन्द

अच्छा हुजूर! वृन्द बाबा की बात ही रहने दीजिये। "ओसों प्यास नहीं बुझती"; न बुझने दो। इससे आपका कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। अस्तु, आप दीनबन्धु और दीनानाथ ही सही, पर यह तो कहिए कि कुछ इधर भी कृपा कीजियेगा। कुछ इधर भी दया-दृष्टि दिखलाइयेगा। क्योकि—

नख बिनु कटा देखे, सीस भारी जटा देखे,
जोगी कनफटा देखे छार लाऐं तन मै ;
मौनी अनबोल देखे, सेवरा सर-छोल देखे,
करत कलोल देखे बनखडी वन मैं।
गुनी देखे, गूढ़ देखे, बीर देखे, सूर देखे,
माया-भरपूर देखे, भूल रहे धन मैं,

होरी कौ औसर हेरि लला। इरुऐं ढिग आइ गली मैं लई गहि,
ही छरकाइल छूटि गई "रघुनाथ" छबीले न फेरि सके लहि।
रीझि औ खीझि दोऊ प्रगटे, वृषभानु-लली इगि दूरि खरी रहि,
नैन-नचाए कछू कहिवे कौ, पै चाह्यौ कह्यौ नहिं आयौ कछू कहि।

❀ ❀ ❀ ❀

आदि-अन्त सुखी देखे, जनमहूँ के दुखी देखे—,
पै वे न देखे जिनके लोभ नाहिं तन मैं।

—लोकोक्ति-कोष

इसलिये—

का वर्षा, जब कृषी सुखाने,
समय चूकि पुनि का पछिताने।

—तुलसीदास

अथवा—

दीवो अवसर कौ भलौ, जासौ सुधरैं काम,
खेती सूखें बरसिबौ, घन कौ कौनैं काम।

—वृन्द

इसी उक्ति पर मौलाना "हाली" साहब का बड़ा सुन्दर "शेर" है—

खेतियाँ जलकर हुईं, यारों की ख़ाक,
अब्र है घिरकर इधर आया अबस।

अस्तु, इसलिये कहता हूँ व अर्ज करता हूँ कि—

हरि मैं बड़ी बेर कौ ठाढ़ौ;
जैसैं औरु पतित तुम तारे, तिन ही मैं लिख काढ़ौ।
जुग-जुग बिरद यही चलि आई, टेरि कहत हौ ता तैं;
मरियतु लाज पंच-पतितन मैं, हौ घटि कहौ कहाँ तै।
कै अब हारि मान कैं बैठौ, कै करौ बिरद सही;
"सूर" पतित जो झूंठ कहत होइ, देखौ खोल बही। ※

—सूरसागर

※ इस पर भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी का एक बड़ा सुन्दर पद है—

वही मैं ठाम न नैकु रही,
भरि गई लिखत-लिखत अघ मेरे, बाकी तबहुँ रही।

क्योंकि—

जैऐ कौंन के अब द्वार ;
जो जिय होइ प्रीति काहू कैं, दुख सहिऐ सौ बार।
घर-घर राजस, तामस बाढ्यौ, धन जोवन कौ गार ;
काम-विवस ह्वै दान देति नीचन कौ होत उधार।
साधु न सूझत, बात न बूझत, ए कलि के व्यौहार,
"व्यास दास" कत भागि उबरिऐ, परिऐ माँझीधार।

हाँ हाँ कहिये न, अब किसके दरवाजे पर जाय? किसका मुँह देखें? किसकी ओर ताकें? बताइये न? अजी हम तो—

भरोसौ रीझन ही लखि भारी ;
हम हूँ कौ विसवासु होत है, मोहन पतित-उधारी।
जो ऐसौ सुभाव नहि हो, तौ—क्यौं अहीर कुल भायौ ;
तजिकैं कौस्तुभ-मनि सी गर क्यौं, गुंजा-हार धरायौ।
कीट, मुकुट सिर छाँड़ि पखौआ मोरन के क्यौं धरतो ;
फेंट कसी टेंटिन पै, मेवन कौ क्यौ स्वाद विसरतो।
ऐसी उलटी-रीझि देखि कैं, उपजी है जिय आस ;
जग निन्दित "हरिचन्द" हु कौ, अपनावहिगे करि दास।

—प्रेम फुलवारी

क्योंकि—

हम तौ लोक, वेद सब छोर्‌यौ ;
जग कौ सब नातौ तिनका सौ, तुम्हरे कारन तोर्‌यौ।

चित्रगुप्त हारे अति थकि कैं, वेसुधि गिरे मही,
जमपुर में हरताल परी है, कछु नहिं जात कही।
जाम भागे कछु खोज मिलत नहिं, सबही वही-वही,
"हरीचंद' ऐसे कों तारौ, तौ तुव नाम सही।

छाँड़ि सबै अपने औ दूजेनु, नेह तुम्हीं सौं जोन्यौ,
"हरीचंद" तें किहि हित करिकै, तुम अपनो मुख मोन्यौ।

लेकिन—

जानिते जो हम तुम्हरी बाँनि ;
परम-अवार करन की जन पै, हे करुना की खाँनि,
तौ हम द्वार देखि ते दूजौ, होते जहाँ दयाल ; ❀
करते नहिं विस्वास बेद पै, जिन तुम्ह कह्यौ कृपाल।
अब तौ आइ फँसे सरनन मैं भयौ तिहारौ नाम ;
"हरीचद" तासौं मोहि तारौ, बाँनि छाँड़ि घनस्याम !

अस्तु—

तिहारे हित की भाँखत बात ;
काउ-बिधि अबकै तार देहु मोहि, नाँहिन तौ "प्रन" जात।
बूंद चूकि पुनि घट-ढरकावत, रहि जैहौ पछितात ;
बात गऐं कछु हाथ न ऐहै, क्यौं इतने इतरात।
चूक्यौ समै फेरि नहिं पैहौ, यह जिय धरिकैं तात ;
तारि लीजियै "हरीचंद" कौ छाँड़ि पाँच अरु सात।

❀ कुछ ऐसाही सुन्दर भाव श्री सूर ने भी कहा है—

तुम तजि, कौन नृपति पै जाँऊ ;
काके द्वार जाइ सिर नाँऊ, पर-हथ कहाँ बिकाऊँ।
ऐसौ को दाता है समरथ, जाके दऐं अघाऊँ ;
अन्त-काल तुम्हरौ सुमरन, गति, अनत कहूँ नहिं दाऊँ।
रंक, अजाची कियौ सुदामा, दयौ अभै-पद-ठाऊँ ;
कामधैनु, चिन्तामनि दीनो, कल्प-बृच्छ-तरु छाँऊँ।
भव-समुद्र अति देखि भयानक, मनमैं अधिक-डराऊँ ;
कीजै कृपा सुमरि अपुनौं प्रन, "सूरदास" बलि जाऊँ।

नहीं तो—

फैलि है अपजस तुम्हरौ भारी ;
फिरि तुमकौ कोऊ नहिं कहिहै, मौहन पतित-उधारी ।
बेदादिक सब झूंठ हौहिगे, ह्वै जैहै अति ख्वारी ;
तासौ कोउ बिधि धाइ लीजिऐ "हरीचंद" कौं तारी ।

अथवा—

नाहि तौ हँसी तिहारी ह्वैहै ;
तुमही पै जग दोष धरैगौ, मोकौ दोष न दै है ।
वेद-पुरान प्रमान कहौ को मो तारे विनु लैहै ;
तासौं तारौ "हरीचद" कौ; नाही जग-जस जैहै ।

उफ—

कैसैं कीजै बेद-कह्यौ ;
हरि-मुख देखत बिधि-निसेध कौ नाहिंन ठौर रह्यौ ।
दुख कौ मूल सनेह सखी री ! सो उर पैठि रह्यौ ,
"परमानद" प्रेम-सागर मैं गिर्‍यौ सो लौन भयौ ।

—नित्य कीर्तन

भैया ! हमारी कुछ विशेष चाहना या इच्छा नहीं है । केवल इतनी ही है कि—

चरण-चन्द्र नख चारु हरे तम, ताब शिताब निशाहै ;
राखें रहें सहाय हमेशाँ, रसराहै, वरवाहैं ।
"सहचरि शरण" कृपल देहु तुम, तन तमाल छवि छाहैं ;
अतिशय अति अरज़ी मरजी कर—नजर-नेह दी चाहै ।

अथवा—

जनु अनुराग बुलबुलें लालन ! बाग-बहार सराहैं ;
शिखि शिखि पिच्छ, मौलि मनरंजन, यार मुदार शिलाँ हैं ।

आशिक़ रसिक-स्याम-घन-चातक, चारु करत चरचा है ;
"सहचरि-शरण" अचाहैं चाहैं, नजर नेह दी चाहैं।

क्योंकि—

दामन गहैं रहै ज़ामे का, इती अरज़ मुदकंदे ;
दरस दिया कर, महर किया कर, महरबान हरफंदे।
छबि-चिराग़ रोशन चित चहिये, "सहचरि-शरण" असंदे ;
"ऐ गरीब परवर ?" गरीब हम, इन क़दमों के बंदे।

—सरस-मंजावली

अजी सहचरि-शरण जी ! आप लोग क्यों इनके कदमों पर पड़ते हो, क्यों इनके फेरों मे पड़े भटकते हो—नाहक इनके फँदे में फँसते हो; अरे इनको अपनी बात की अपने 'विरद" की कुछ लाज नहीं है। ऐं! फिर वही बात कि—

अहो हरि ? अपुने बिरद हि देखौ ;
जीवन की करनी, करुना-निधि, सपनेहुँ जिनि अबरेखौ।
कहूँ न निबाह हमारौ जौ तुम, मम दोसन कौ पेखौ ;
अवगुन अमित, अपार हमारे, गाइ सकत नहिं सेसौ।
करि करुना, करुनामय माधव ? हरहु दुखहि लखि भेखौ,
"हरीचंद" मम अबगुन, तुम गुन, दोउन कौ नहिं लेखौ।

—प्रेम-प्रलाप

अथवा—

कीजै चित सोई तिरौ, जिहि पतितन के साथ ;
मेरे गुन अवगुन-गनन, गिनौ न गोपीनाथ।

—विहारी

अथवा—

हमारी तुमको लाज हरी;
जानत हौ हरि अंतरजामी, जो जिय माँझि परी।

कहौ और, कछु और कमायौ प्रभुजी से ढँग निकरी ;
अति प्रपंच कौ मोट बाँधिकैं, अपने सीस धरी।
अपनौ औगुन कहँ लौं बखानौं, पल-पल घरी-घरी ;
सुत, बनिता सँग मोहि लियौ है, सुधि बुधि सब बिसरी।
लीजै पार उतारि दीन-प्रभु! अब मेरी नाव भरी ;
कहै "नानक" अति बिरद तिहारौ, गहौ बाँह पकरी।

—नानक पदावली

नानक जी! ये बाँह-वाँह पकड़ने वाले नहीं हैं और यदि पकड़नी ही होती, तो क्यों दुष्ट और नास्तिकों के बीच अपने भक्तों को गालियाँ और फबतियाँ सुनवाते—तालियाँ पिटवाते? हाँ, शहचरिशरणजी ने पहिले एक बार कुछ ऐसी ही विनती की थी। पर क्या कुछ सुनवाई हुई थी? जैसे कि—

स्याम कठोर न होउ हमारी......बार कौ ;
नैकु दया उर लाउ, उदय करि प्यार कौं।
"सहचरि-सरन" अनाथ, इकेलौ जानि कै,
कियौ चँहत खल ख्वार बचावौ आनि कै।

—सरस मजावली

—और...सूरदासजी! कुछ बही-खाता हो तो खोलकर दिखलायें—कागज़ात किसी कमरे मे बन्द हो तो निकालकर लायें। आपका तो हिसाब किताब ही निराला है, मामला ही उलटा है—दिखावटी टीम-टाम है, "ऊँची-दूकान और फीका पकवान" सा है।

कहा ठीक है यह मक़ूला किसी का,
कि दूकान ऊँची है पकवान फीका। —लोकोक्ति-कोष

अथवा—

जानि सुजान सैं प्रीति करी, सहिकैं जग की वहु भाँति हँसाई ;
त्यौं "हरिचंदजू" जो-जो कह्यौ, सो कर्‌यौ चुप ह्वै करि कोटि उपाई।

सोऊ नहीं निवही उन सौं, उन तोरत वार कछू न लगाई ;
साँची भई कहनावतियाँ अरी "ऊँची दुकान की फीकी मिठाई" ।

अस्तु, कोरी बातें भलेही बनवा लीजिये पर, करने-धरने का नाम न लेना । किसी शायर ने ठीक कहा है—

क्या मिला अर्ज़-मुद्दआ करके ,
बात भी खोई, इल्तजा करके ।

खाली बातें-ही-बातें हैं, सब ज़बानी जमा-खर्च है । ज़्यादह कहियेगा तो हार मानकर बैठ जायँगे, इधर-उधर हो जायँगे; दिवाला निकाल देंगे; क्योंकि तीन दिवाले शाह और फिर आपने अपना नाम भी तो "साँवलिया साह" रख लिया है, जैसे—

"अपने हाथन हाँकत रथ कौ, रथ बैठे "रनछोर" जी आए ;
लछमी रथ पै आपु सारथी, तुर्रा, कलँगी अति छबि छाए ।
चीरा, पटुका औरु बकतरी, कलम कान कैसे ही भाए ;
काँख मैं "बही" भक्त के कारन, प्रभु बनियाँ कौ भेष बनाए ।
हाँकत-हाँकत द्वार लगि आये, तहँ "नरसी" जी नाँचत पाए ।"

❀ ❀ ❀

कौन कहाँ ते तुम आए, कहा तुम्हारौ नाम ,
कौन किसके चाकर कहियौ, कहाँ तुम्हारौ गाँम ।
पुरी-द्वारिका सौं हम आए, "नरसी" हमैं बुलाए ,
चाकर तौ नरसी कै कहियै, "साँवलिया साह" कहाए ।

—नरसी मेहता

अन्धे, समझाने-बुझाने से माननेवाले नहीं होते; क्योंकि उनकी "सीध" नामी हुआ करती है । अस्तु, जब "सूरदास" जी किसी प्रकार समझाने-बुझाने से न माने और न उस अन्धा-धुन्ध-सरकार से सूरदासजी को कोई जवाब ही मिला तब फिर

क्या था, आप बिगड़ खड़े हुए, ताल ठोककर लड़ने पर उतर पड़े, और बोले—

आजु हौं ? एकु एकु करि टरिहौं,
कै हमहीं, कै तुमही माधव ! अपुन भरोसें लरिहौं।
हौं तौ पतित अहो पीढ़िन कौ, पतितै ह्वै निस्तरिहौं,
नहि तौ उघरि नँचन चाँहत हौं, तुम्है बिरद बिनु करिहौं।
कत अपनी परतीत नसावत, मैं पायौ "हरि हीरा",
"सूर" पतित तब ही लौं उठिहै, जब हँसि दैहौ बीरा।

—सूरसागर

भैया ! केवल "सूरदासजी" ही नहीं, "हरिश्चन्द्र" जी भी, जिनका कि यह अटल-कौल है—

चंद मिटै, सूरज मिटै, मिटै जगत-व्यौहार,
अभिमानी हरिचंद कौ, मिटै न सत्य-बिचार। *

—आपकी कठोरतामयी "नादिहानी" देखकर बिगड़ खड़े हुए हैं और ऐसे-वैसे अर्थात् लुक-छिपकर लड़ने के लिए नहीं; अपितु खुल्लम-खुल्ला, ललकारकर—सँभल-सँभलाकर लड़ने को लपकते हुए आह्वान कर कहने लगे—

* पाठान्तर—

चद मिटै, सूरज मिटै, मिटै जगत के नैंम,
पै दृढ व्रत हरिचंद कौ, मिटै न अविचल प्रेंम।

अथवा—

यह दृढ श्री हरिचंद कौ, मिटै न अविचल प्रेंम।

इसी भाव पर श्रीहित हरिवंशजी भी कहते हैं—

चंद घटै, सूरज घटै, घटै त्रिगुनं विस्तार,
पै दृढ "हित हरिवंश" को, घटै न नित्य-विहार।

सम्हारहु अपुने कौं गिरिधारी;
मोर-मुकुट सिर पाग-पेच कसि, राखहु अलक सँवारी।
हिय-हलकत बनमाल उठावहु, मुरली धरहु उतारी;
चक्रादिकन सान लै राखौ, ककन फँसन निवारी।
नूपुर लेहु चढ़ाइ, किंकिनी खींचहु करहु तयारी;
पियरौ-पट परिकर कटि कसिकै, बाँधौ हो बनवारी।

क्योंकि—

हम नाहीं उनमैं जिनकौं तुम सहजहिं दीने तारी;
बानौ जुगऔ नीकैं अबकी, "हरीचंद" की बारी।

—प्रेम-फुलवारी

अथवा—

आजु हम देखत हैं को हारत;
हम अघ करत कि तुम मोहिं तारत, को निज बान बिसारत।
होड़ परी है हमसौं तुमसौं, देखै को प्रन पारत;
"हरीचंद" अब जात नरक मैं, कै तुम धाइ उबारत।

ऐसा ही कुछ विहारीलालजी भी कहते हैं—

मोहि तुम्है बाढ़ी बहस, को जीतै जदुराज;
अपने-अपने बिरद की, दुहुँन निवाहन लाज।

अथवा—

कै तौ निज परितिग्या टारौ;
गीतादिक मैं जौंन कही है, ताकौ तुरत बिसारौ।
दीनबन्धु, पुन-तारति नासन, अपनौ बिरद बिगारौ;
कै झट धाइ, उठाइ भुजा-भरि "हरीचद" कौ तारौ।

—प्रेम-मालिका

छोड़ दीजिये सरकार! इस प्रतिज्ञा को छोड़ दीजिये! इसमें क्या धरा है? कौन सा सुख दे रही है? कौन सा नाम कमा रही

है ? अस्तु रोज-रोज का झंझट जाने दीजिये। हाँ-हाँ कह दीजिये कि जो कुछ गीतादिक में कहा गया था वह झूठ है। दीनबन्धु, प्रण-पालक नामवाला "विरद" केवल ढकोसला था। उसमें कुछ तारतम्य नहीं है, लेकिन यह क्या ? देखो देखो ! फिर क्या कहा जा रहा है कि—

छूट नहिं तुमकौ कोउ बिधि प्यारे ;
हम सब पाप करैंगे, बनिहै ताहू पै पुनि तारे।
बेदन मैं क्यौं कहु कहिवायौ, पतित-उधारन-नाम ;
क्यौ परतिग्या करी कहौ, कै तारैंगे अघ-धाम।
सुबरन-चोर, ब्रह्म-हत्यारौ, गुरुतल्पगहु सुरापी ;
अबकी बेर निबाहि लेहु पिय "हरीचंद" सौ पापी।

—प्रेम-मालिका

जी हाँ। ठीक है, बजा है, हाँ-हाँ बिना तारे; बिना उबारे किसी प्रकार निस्वार नहीं, छूट नहीं ? हम सम्पूर्ण अर्थात् सब-के-सब, एक भी बाकी न छोड़कर, बाकी की बेबाकी कर पापों को करेंगे क्या ? करते रहेंगे और इतने पर भी तुर्रा यह कि आपको तारना होगा, तारना होगा—इस जंजाल से निस्तार करना होगा। क्योंकि—

हम नहि अपने कौ पछितात ;

किन्तु—

यह सोचत कै बिनु मोहि तारैं, बात तिहारी जात।

क्योंकि—

अजामिलादिक के तारन सौं, भए अतिहि बिख्यात ;
सो काहू विधि अबलौ निबही, जानी जगत जगात।

"हरीचंद" तुम्हरौ अरु पापी, यह दोऊ आत ख्यात ;
तासौं ताकौं तारि कोऊ विधि, राखौ अपनी बात।
——प्रेम-मालिका

कुछ इसी प्रकार का एक बड़ा सुन्दर पद "भारतेन्दु" जी पुनः कहते है—

हम तौ ढोपहु तुम पै धरिहै ;
व्यापक, प्रेरक भॉखि-भॉखि कै, बुरे काम सब करिहै।
भलौ करम जो कछु बनि जैहे, सो कहिहैं "हम कीन्हौ" ;
निसि-दिन बुरे करम कौ फल सब, तुम्हरे माथै दीन्हौ।
पतित-पवित्र करन तब तुम्हरौ, साँचौ ह्वैहै नाम ;
जब तारिहौ हठी कोऊ मोसौ "हरीचंद" अघ-धाम।

किसी उर्दू-शायर ने भी एक "शेर" कुछ ऐसा ही भावपूर्ण कहा है—

ख़ुदा पूछेगा गर मुझसे, कि यह तकसीर किसकी है ;
कहूँगा बरमला तक़दीर मे, तहरीर किसकी है।

अस्तु—हुजूर, पुरनूर। किसी तरह इन पतितो से पिण्ड छुड़ाइये। किसी प्रकार इस सिर आई बला को टालिये। हँसकर बीड़ा दे दीजिये, या और जो कुछ ये लोग फर्मायें वह कर दीजिये; क्यो संसार मे व्यर्थ अपनी बदनामी का बिगुल बजवाते हो ! इन अन्धे बहरों का क्या ठिकाना, न जाने क्या-क्या कह डालें ! क्या-क्या बक डालें ! आपको बिना "विरद" का कर देवेंगे, दीनबन्धु, दीनानाथ, पतित-पावन आदि उपाधियों को छीन लेंगे, वेद-वाक्यों पर हड़ताल फिरवा देंगे और भी न जाने क्या-क्या कर देंगे। फिर यह सब किसके भरोसे ? आपके ! हाँ-हाँ केवल आपके—

"मै पायै हरि हीरा"

वाह ! कितना कोमल भाव है, क्या ही जोरदार अपील है—कैसी कानूनी जबरदस्ती है ।

ख़्वाहिश परी की है, न तमन्ना है हूर की ,
आँखों के सामने रहे, सूरत हुज़ूर की ।

और लो श्रीमान् ! यहाँ "एक न शुद, दो शुद" का मामला दरपेश हो रहा है । अब तक यह समझा जाता था कि यह सारी उछल कूद आपके ही बल-भरोसे पर है । केवल एक लकड़ी के सहारे ही ये सारे बन्दर बबक रहे हैं; पर यह नही, जैसे—

मोहि बल है दोऊ ठैर कौ

किस-किस का ?

एकु भरोसौ हरि-भक्तन कौ, दूजौ नंद-किसोर कौ ।
मनसा, वाचा औरु करमना, नाहि भरोसौ और कौ ;
"छीतस्वामि" गिरिधरन श्रीविट्ठल, वल्लभ-कुल-सिर मौर कौ ।

—और तानसेनजी ने तो "बल-भरोसो" की नुमायश ही लगा दी—बाजार ही खोल दिया, जैसे—

एक बल निरंकार, दूजौ बल चन्द सूरज,
तीजौ बल लोक, चौथौ बल प्रकास ;
पच-बल भूत-आतम, छठऍ बल नाराइन,
सातऍ बल सागर, आठऍ अष्ट भुजी—
नवऍ बल नव-कुली, दशऍ अवतार प्रकास ।
ग्यारह बल रुद्र, एकादस बराह बल,
बामन तेरहैं बल, तीन-लोक चौदह बल कहे विद्या प्रकास ,
पन्द्रह बल तिथि, सोरह बल, बल सिंगार,
सत्रह बल सत्यवती, अठारह बल वनस्पति ;

उन्नीसवें पिनाकधर, बीसएँ लक्ष्मी,
इकईस बल "तानसैन" प्रकास।
—संगीत-रत्नाकर

वाह "तानसेनजी"! खूब शेरों को बख्तर पहिनाया*। अब ये क्यों दबने लगे?

बलों का ताँता लग गया? अच्छा है बहुत मूँड़ चढ़ा रक्खे थे। अब सुनो न टेढ़ी मेढ़ी! आना कानी क्यों करते हो। हुजूर! बात तो असल में यह है—

रावरी रीझि के बल जैऐ;
महा पतित सौं प्रीति पियारे! एकु तुम्ही मे पैऐ।
नैमिन, ग्यानिन दूरि राखि कै, हम से पास बिठैऐ;
"हरीचंद" यह जग उलटी गति, केवल कहा कहैऐ।
—प्रेम-मालिका

प्यारे! सुनिये तो, दादा बिहारीलालजी कहते हैं कि आप इन लोगों की बातों में आकर क्यो कष्ट करते हैं—नाहक तकलीफ उठाते हैं, क्योंकि—

ज्यौ ह्वैहौं त्यौं हौंहुगो, हौं हरि अपनी चाल;
हठु न करौ अति कठिनु है, मो तारिबौ गुपाल। †

* उक्त लोकोक्ति पर "लोकोक्ति-रस-कौमुदी" कार ने बड़ी सुन्दर सूक्ति कही है—

मौहन सजौ आजु सिंगार, धरै धीर को लखि दुतिवार,
लोग पखानौं यौं जग भजै, इक नाहर अरु पाखर सजै।

† बिहारी-बिहार के कर्ता पं० अम्बिकादत्तजी व्यास ने इस पर यों अपनी प्रतिभा परखाई है—

अर्थात् श्रीमान् ! मैं अपनी चाल (क्रिया-प्रणाली) से जैसा होनेवाला हूँगा, वैसा हो जाऊँगा, यानी अपने ही भले-बुरे कर्मों-द्वारा जो फल प्राप्त होगा उन्हे भोग लूँगा; अस्तु आप मेरे तारने-वारने का हठ न करें--कष्ट न करें। इसके लिए प्रयत्नशील न हों क्योकि मेरा तारना बड़ा कठिन है, सहज-कार्य नही है, फिर नाहक श्रम करने से फायदा ?

कहिये सरकार ! बिहारी दादा ने कैसा कमनीय-मार्ग निकाल दिया और कैसे सुन्दर-ढंग से सारे "इल्जामात" से बरी कर दिये; कितनी नाजुक-दलील उपस्थित कर दी, कुछ कहना है।

बड़ा-मुश्किल है दिल पर ज़ब्त करना, माना ये हमने,
मज़ा शीरो-शकर मिलता है, लेकिन ज़हर पी-पी कर।

—कोई शायर

—और "पद्माकरजी" भी तो यही पुकार मचाते हुए कहते हैं कि--

व्याधि हू तै बिहद, असाधु हौं अजामिल लौं,
ग्राह तै गुनाही कहौ ? तिन मै गिनाऔगे ;
स्यौरी हौं, न सूर हौं, न केवट कहूँ कौ त्यौंन—
गौतम-तिया हौं जो पै पग-धरि आऔगे।
राम सौं कहत पुकारी "पदमाकर" अहो--
मेरे महा-पापन कौ पार हू न पाऔगे,

"मो तारिवो गुपाल", अहै अति-कठिन तिहारौ,
गज औ गीध समान, मोहि प्रभु ! मति निरधारौ।
पै हौं सुख अरु दुख, इहाँ जैसो कछु कै हों ;
चिन्ता मेरी तजहु, "सुकवि" है हौं ज्यौं है हौं।

—बिहारी-विहार

क्योंकि—

झूठौ ही कलंक सुनि सीता जैसी सती तजी,
हौ तौ साँचौ हौं कलंकी ताहि कैसैं अपनाओगे।

उफ देखिये सरकार! इन आपके "मुँह लगे" लोगों के साथ कहाँ से कहाँ आ गये। क्या कह रहे थे और क्या कहने लगे। यह न समझ जाना कि—

बड़े भोले भाले, बड़े साफ़ दिल हैं,
हमारा हमीं से गिला करने वाले।

—कोई शायर

भगवन्! भक्ताग्रगण्य-भीष्म पितामह ने भी तो आपके साथ वही दाव कि—

"आजु हौं एकु-एकु करि टरिहौं" —सूर

—वाला, महाभारत के भव्य समय पर खेला था? कुछ ऐसी ही बाज़ी लगायी थी न! कि—

आजु जो हरि हि न सस्त्र गहाऊँ;
तौ जननी-गंगा कौ लाजौं, सान्तनु-सुत न कहाऊँ।
स्यंदन-खंडि, महारथ-खंडौ, कपि-धुज सहित डुलाऊँ;
इती न करौं मोहि "सपथ हरी की", छत्रिय-गति नहि पाऊँ।
पाँडव-दल सनमुख ह्वै धाऊँ, सरिता-रुधिर बहाऊँ;
"सूरदास" रन-भूमि-बिजै बिनु, जिअत न पींठ दिखाऊँ।

—सूरसागर

स्वर्गीय—बाबू जगन्नाथदासजी (रत्नाकर) ने इसी भाव पर एक बड़ी सरस सूक्ति सूजी है, यथा—

पारथ, बिचारौ पुरसारथ करैगौ कहा,
स्वारथ समेत परमारथ नसै हौं मै,

"कहै रतनाकर" प्रचार्‌यौ रन भीषम यौं,
आजु दुरजोधन कौ दुख दरिदैहौ मैं।
पंचनि के देखत प्रपंच करि दूरि सबै,
पंचनि कौ स्वत्व पंच-तत्व मैं मिलैहौ मैं,
हरि-प्रन-हारी-जस धारि कै धरा ह्वै सांत,
साँतनु कौ सुभट सपूत कहिवैहौ मैं।

अथवा—

भीषम भयानक पुकार्‌यौ रन-भूमि आँनि,
छाई छिति छत्रिन की गति उठि जाइगी;
"कहै रतनाकर" रुधिर सौं रुँधैगी धरा,
लोथनि पै लोथनि की सु भीति उठि जाइगी।
जीति उठि जाइगी अजीत पांडु-पूतन की,
भूरि दुरजोधन की भीति उठि जाइगी,
कै तौ प्रीति-रीति की सुनीति उठि जाइगी—
कै आजु हरि-प्रन की प्रतीति उठि जाइगी।

—भीष्माष्टक

रीवाँ नरेश श्रीरघुराजसिंहजी भी यही फर्माते हैं कि—

जो मैं सुरसरि-सुवन कहाऊँ,
तौ प्रन सभा मध्य अस गाऊँ,
कौरव-पांडव बीच दुहूँ दल, हरि-पूजन अस ठाऊँ।
सोनित-कन अन्हवाई नाथ कौं, रन-रज बसन उढाऊँ;
पांडव-सैन-गारि गोविंद-अंग, चंदन कोप चढाऊँ।
विविध वरन कौ विपुल विकासित, विसिख-माल पहिराऊँ,
सनमुख सत्रु सँहारि सहस्रन, कीरति-सुरभि सुछाऊँ।
तबहि त्रिविक्रम को तुरंत तहँ, विक्रम दीप दिखाऊँ;
पारथ सखा-समीप जाइकै, प्रन-नैवेद्य लगाऊँ।

सकल जगत तें खैचि प्रीति की, बीरी आजु खवाऊँ ;
बिजै-बान चलवाइ समर महँ, जै-दच्छिना दिवाऊँ ।
रथ सौं रथ मिलाइ माधव कौं, धुज-चामरहिं चलाऊँ ;
नख-सिख निरखत रूप अनूपम, नैंन निरॉजन लाऊँ ।
बार-बार हनि दंड प्रत्यंचा, धनुषहिं बाज बजाऊँ ;
रथ-मंडल करि दै परदच्छिन, उर आँनद उपजाऊँ ।
जदुबर-कर सौ आजु अवसि मैं, चक्र-प्रसादहि पाऊँ ;
अरजुन-सर पंजर जंजर ह्वै, गिरि सनमुख सिर नाऊँ ।
यह बिध रन प्रभु कौ करि पूँजन, त्रिभुवन मैं जस छाऊँ ;
"श्रीरघुराज" कृपा हरि की लहि बरबस हरिपुर जाऊँ ।

प्रभो ! जब कि आपके भव्य-भक्त ने उक्त प्रतिज्ञा की थी उफ .....कैसा कठिन समय था। मेदनी उभय-कलह के कारण रुंड-मुंड से प्लावित हो रही थी। परस्पर विजय-कामना से आलुलायित संयुक्त दल रण-निनाद में निमग्न थे। पितामह, प्रतिज्ञानुसार कार्य करने को किस तरह लालायित हो अतीव दुर्द्धर्ष संग्राम में अभिषिक्त थे। कैसा भयावह समय था प्रभो ! उसका यत्किञ्चित आभाष, कथनमात्र से ही कितना हृदय-द्रावक है, देखिये न जैसे—

मुंड लागे कटन, पटन काल-कुंड लागे,
लुंड लागे लुठन निमूल कदलीनि लौं,
कहै "रतनाकर" बितुंड-रथ-बाजी-झुंड,
लुंड-मुंड लौटैं परि उछरि तिमीनि लौं।

उस समय आप व अर्जुन की क्या दशा हो रही थी—

हेरत हिराए से परसपर संचित चूर,
पारथ औ सारथी अदूर दरसीनि लौं,

क्योंकि—

लच्छ-लच्छ भीषम भयानक के बान चलैं
सबल, सपच्छ फुँफुकारत फनीनि लौं।
—रत्नाकर

महाराज रघुराजसिंह जू (रीवाँ नरेश) ने भी कुछ ऐसा ही कहा है—

भीषम-सर छिन-छिन अधिकात,
मूँदे पारथ सारथि-रथ-जुत, तुरँग नहीं दरसात।
बार-बार हरि दावत रथ कौं, तबहु उड़्यौ जनु जात,
ताजन हूँ बाजिन तनु लागत, पै न बेगि सरसात।
बागहु छूटि गई हरि-कर सौं, नहिं कपि-धुज फहरात;
मुरछित परे चक्र-रच्छक दोऊ, लहै बिसिख उर घात।
करत बनत नहिं तहँ प्रभु सौं कछु, कौरब सब मुसिकात,
"श्रीरघुराज" भक्त-प्रन-पालन, मानहुँ कछु न बस्यात।
—रघुराज विलास

नाथ ! पुराने न सही, इस नये "रत्नाकर" ने पितामह द्वारा बाण-वर्षा से विक्षिप्त और द्विविधा में पड़े—

"व्यत्यस्तवस्त्राभारणा।"
—भागवते

—का कैसा सुन्दर नयनाभिराम स्वरूप वर्णन किया है कि वाह ! जैसे—

भीषम के बानन की मार इमि माँची गात,
एक हू न घात सव्य-साची करि पावै है;
कहै "रतनाकर" निहारि सो अधीर-दसा,
त्रिभुवन-नाथ नैन भरि-भरि आवै है।

वहि-वहि हाथ चक्र ओरि ढहि जात पीठ—
रहि-रहि तापै बक्र-दीठि पुनि धावै है ;
उत प्रन-पाऊन की कॉनि सकुचावै इत—
भक्त-भय-पालन की बॉनि उमँगावै है।

अस्तुः फिर क्या हुआ कि—

छूव्यौ अवसान, मान सकल धनजय कौ,
धाक रही धनु मै न साँक रही सर मैं ;
कहै "रतनाकर" निहारि करुनाकर कै—
आई कुटिलाई कछु भौंहन-कगर मै।
रोकि भर रंचक अरोकि-बर-बाननि की,
भीषम यौं भाष्यौ मुसिकाइ मन्द-स्वर मैं ;
चाँहति बिजै कौं सारथी जो कियौ सारथ तौ—
बक्र करौ भृकुटी न, चक्र करौ कर मैं।

श्रीमान् ! सूर ने भी तो कुछ ऐसा ही वर्णन अपने एक पद में किया है, जैसे कि—

सुरसरि-सुवन रन-भूमि आए ;
बान-बरसा लगे करन अति क्रोध करि, पारथ-औसान सब भुलाए।
कह्यौ करि कोप प्रभु ! अब प्रतिज्ञा तजौ, नाहिं तौ परत रन हम हराए ;
"सूर" प्रभु-भक्त-बच्छल-बिरद अति उर, ताहि या बिधि बचन कहि सुनाए।

गजब हो गया नाथ ! गजब हो गया ! उफ...इतनी ढिठाई, इतनी कुटिलताई ? अतः—

बक्र-भृकुटी कै चक्र ओर चख फेरत ही,
सक्र भए अक्र उर थामि थहरत है ;
कहै "रतनाकर" कलाकर अखंड मडि,
चंड कर जानि प्रलै-खंड ठहरत है।

कोल, कच्छ, कुंजर कहलि हलि काढ़े खीस,
फननि फनीस के फुलिंग फहरत है,
मुद्रित तृतीय-दृग रुद्र मुलिकावै मींड़ि,
उद्रित समुद्र अद्र, भद्र भहरत है।

अस्तु—

ज्यौं हीं भए विरथ रथांग गहि हाथ नाथ,
निज प्रन-भंग की रही न चित चेत है;
कहे "रतनाकर" त्यौं संग ही सखा हू कूदि—
आनि अन्यौ सौंहै हा-हा करत सहेत है।
कलित कृपा औ त्रिपा द्वि मग समाहैं पग,
पलक उठ्यौ ही रह्यौ पलक समेत है;
धरन न देत आगैं अरुझि धनजय औ—
पाछै उभै-भक्त-भाव परन न देत है। *

* महाभारत में भी ऐसा ही कहा है—

एह्येहि पुण्डरीकाक्ष देव देव नमोस्तुते,
मामद्य सात्वतश्रेष्ठ, पातयस्व महाहवे।
त्वयहि देव संग्रामे हतस्यामि ममाऽनघ,
श्रेय एव परं कृष्ण लोके भवति सर्वत.।
सभावितोऽस्मि गोविन्द त्रैलोक्येनाऽद्य संयुगे,
प्रहारस्व यथेष्टं वै दासोस्मि तव चाऽनघ।

चित्रकूट चढ़ते समय गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी कुछ ऐसा ही भावमय वर्णन भरतजी का किया है, यथा—

फेरति मनहुं मातु-कुल खोरी, चलत भगत दल धीरज धोरी,
जब समुझहि रघुनाथ सुभाऊ, तब पथ परत उताइल पाऊ।

—रामचरितमानस

अथवा—

गोविंद कोप चक्र कर लीन्हौ ;
छाँड़ि आपुनौं प्रन जादौंपति, जन कौ भायौ कीन्हौं ।
रथ तै उतरि अवनि आतुर ह्वै, चले चरन अति धाएँ ;
मनु संकित भू-भार उतारनु चलत भए अकुलाऐ ।
कछुक अंग तैं उड़त पीत-पट, उन्नत बाहु विसाल ,
स्वेद स्रोत तन सोभा कन-छवि, घन बरखत जनु लाल ।
"सूर" सु भुजा सहित सुदरसन, देखि विरंच भ्रम्यौ ;
मानौं अग्नि-सृष्टि करिबे कौ, अबुंज नाम गम्यौ ।

—सूरसागर

श्री सूर के इस सरस भाव पर महाराज रघुराजसिहजी ने बड़ा सुन्दर चित्र खींचा है । यथा—

हरि हरबर सु अवसर जानि ;
तज्यौ पारथ कौ तुरत रथ, चूक दल निज मानि ।
देवव्रत पै द्रुत हि दौरे, छबि न जाति बखानि ;
भोगी भोग समान भुज ऊरध उठ्यो छबि खानि ।
परम परकासित सुदरसन, लसत मंजुल पानि ;
मनु सनाल सरोज पै रबि, बैठि आसन ठानि ।
बजत मृदु-मंजीर-पद-प्रिय, पीत-पट फहरानि ;
समर-रज-रंजित रुचिर कछु, अलक मुख बिथुरानि ।
छौनि लौं पट-छोर छहरत, गहत जुगल भुजानि ;
मनहुँ माधव हरति महिकी, भूरि-भार गलानि ।
मर्‍यौ भीषम, मर्‍यौ भीषम, कहत दोउ दल बानि ,
तजत नहिं कोउ बीर सर धनु, रहे निज-निज तानि ।
नैंन नैसुक अरुन राजत, मंद-गति दरसानि ,
जात ज्यौं गजराज पै, मृगराज अमरख आनि ।

कौन दुतिय दयाल जन-हित, तजै जो निज बानि ;
कृष्ण पै "रघुराज" मति गति, बार-बार बिकानि ।

धन्य प्रभो ! धन्य, अहा...भक्त-प्रण-पालन की कितनी सुन्दर तस्वीर है—कैसा चित्त चुराने वाला चारु चित्र है वाह ! कहिये-कहिये नाथ ! तारीफ किसकी की जाय ! आपकी अथवा आपके इस हठीले भक्त की ! दादा ! जरा मुड़कर अपने इस अभिनव स्वरूप की तस्वीर एक बार फिर से देख तो लो ? वाह कितनी सुन्दर है—कितनी चित्ताकर्षक है। दादा ! सच कहता हूँ, एकदम सच ! अपने उस नयनाभिराम छबि की जरा-सी झलक भी यदि आप निरख पावें तो प्रभो ! सच कहता हूँ कि अपने दिल को फिर अपने पास न पायें और बार-बार देखने को ललचायें; यहाँ तक कि अपने को न्यौछावर कर दें। देखो-देखो दादा ! आपके यत्किञ्चित कृपापात्र इस अन्धे सूर ने उस स्वरूप का कैसा अलबेला खाका खीचा है, जैसे कि—

वा पट-पीत की फहरानि,
कर धरि चक्र चरन की धावनि, नहिं बिसरति वह बानि ।
रथ तै उतरि अवनि आतुर ह्वै, कच रज की लपटानि ;
मानौ सिंघ सैल तै निकस्यौ, महा मत्त गज जानि ।
जिनि गुपाल मेरौ प्रन राख्यौ, मैटि बेद की कानि ;
सोई "सूर" सहाइ हमारे, निकट भए है आनि ।

—और उक्त अभिनव स्वरूप का "रत्नाकरजी" ने भी, बड़ा सुन्दर खाका खीचा है, जैसे—

जाकी सत्यता सै-जग-सत्ता कौ समस्त सत्व,
ताके ताकि प्रन कौ अतत्व बिचलाए है ;

कहै "रतनाकर" दिवाकर दिवस ही मैं—
झंप्यौ कँपि झूमत नछत्र नभ छाए है।
गंगानंद-आनन पै आई मुसकानि मंद,
ताहि जोहि वृन्दारक वृन्द सकुचाए है;
पारथ की कानि, ठानि भीपम महा रथ की,
राखि जब विरथ रथांग गहि धाए हैं।

कुछ ऐसा ही भाव "हरिदयाल" ने भी बड़ा सुन्दर कहा है—

मेरे मन बसी लाल की आँन ;
तिरछी तकन त्रिभंग चलन की, ऐंड़ी-बैंड़ी बाँन।
मोर-मुकुट, अलबेलौ फैंटा, पीताम्बर फहराँन ;
"हरिदयाल" पुरुषोत्तम प्रभु की, मृदु मीठी मुसिकाँन।

देखा सरकार ! देखा न, "सूर" के खयाली पर, अनुभव-गम्य खाके को देखा। कितना सुन्दर खींचा है। कहिये, है न... मनोरम—कुछ कसर तो नहीं है।

देखि चितेर मैं ठाड़े है कान्हर, टेढ़े भए मुँह, नारि मुराएँ ;
कैसे बजावत है मुरली, तिरछे तकि भौंह सौं भौह जुराएँ।
चोरी की टेब यहाँ लौ परी, यह राखिऐ बात कहाँ लौ दुराएँ ;
मौहन मूरति, सुन्दर सूरति, चित्रहु मैं चित लेत चुराएँ।

अथवा—

साँवरे-अंगन मैं नख तै, सिख लौ सुखमा के समूह सने हैं ;
याही बिसासिन बाँसुरी मै, बस की वे के ब्यौंत न जात गने हैं।
ऐसे बड़े दग है जिन गोप-बधू-उर घाइल कीन्है घने हैं ;
बाँके है जैसे कछू सुनि राखे है, चित्र मै वेई चरित्र बने हैं।*

— मनोज मंजरी

* इस हृदय-तड़फाने वाली तस्वीर पर कुछ उर्दू के शेर याद आ गये हैं जैसे कि—

हाँ तो भगवन् ! आपका सारा काफिया कुछ ऐसी ही विवशता पर विवशतया तंग हो जाता है—अनन्यता की आखिरी में सारी शोखी हवा हो जाती है। गीता मे कहा भी तो था—

अनन्याश्चिन्तयन्तो माम् ये जनाः पर्युपासम् ,
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।

अर्थात् अनन्य भाव से मेरा जो निरन्तर चिन्तन करते हैं—उपासना करते है, उन नित-योग-युक्त-पुरुषो के योग और क्षेम को मैं ही धारण करता हूँ। उनके साधन और साध्य, दोनों की मैं ही रक्षा करता हूँ—उनका सम्पूर्ण उत्तरदायित्व, मैं अपने ही ऊपर लेता हूँ; लेकिन हो अनन्य भाव से। यथा—

जिनि जान्यौं बेद, ते तो बादि कै बिदित होहु,
जिनि जान्यौ लोक, तेऊ लोकन पै लरि मरौ ;
जिनि जान्यौ तप, तीनौं तापन तै तपि-तपि,
पंचागिनि साधि तै समाधिन कौ धरि मरौ ।
जिनि जान्यौं जोग, तेऊ जोगी जुग-जुग जियौ,
जिनि जानी जोति, तेऊ जोति लै जरि मरौ ;
हौ तौ "देब" नंद के कुँमर ! तेरी चेरी भई—
मेरौ उपहास कोऊ कोटन किनि करि मरौ ।

देख ले नक्शा अगर इस आलिमे-तसवीर का ,
तू तो क्या जाहिद, दिल आये उस पै तीर पीर का ।

तेरी तसवीर में यह बात तुझ से भी निराली है ,
कि जितना चाहो चिमटालो, न झिडकी है, न गाली है ।

बात करती नहीं, ले लेती है चुटकी दिल में ,
यह तो है आपकी तसवीर में इक बात नई ।

—उर्दू-कविता-कलाप

प्यारे ! आपके "रूप-रस-मधुकरी"* की भिखारिनी उन गोप-बालिकाओं ने पण्डितप्रवर "उद्धव" के व्रज आने पर कुछ ऐसी ही बात कितने प्रेम-विह्वल होकर कही थी कि—

ऊधौ मन माने की बात ;
दाख, छुहारे छाँडि अमृत-फल, बिष-कीरा विष-खात ।
ज्यौं चकोर कौं दै कपूर कोउ, तजि अँगार न अघात ;
मधुप करत घर कोरि काठ मैं, बँधत कमल के पात ।
ज्यौं पतंग हित जानि आपनौ, दीपक सौं लपटात ;
"सूरदास" जाकौ मन जासौं, सोई ताहि सुहात ।

—सूरसागर

समझे साहब ! जिसका मन जिससे लग जाता है उसके सिवा उसे और कुछ सुहाता है ? जिसका जिस पर अनन्यतम भाव भूषित हो गया फिर दूसरे को उसके पास "ठौर" कहाँ ?

अति अगाधु अति औथरौ नदी, कूप, सर बाइ ;

* माननीय स्वर्गीय श्रीनवनीतजी ने इस उक्ति पर क्या ही सुन्दर रचना रची है देखिये न—

प्रेम-प्रन-प्राग वैठि त्रिपथ-त्रिवैनी न्हाइ,
पाइ पद पूरन प्रवीनता हिऐं धरी ।
"नवनीत" साधे सब साधन सनेह-जोग,
जुगत जमाइ कान्ह प्रान धारना करी ।
आयौ बचि विकल वियोग की तपन ताप,
नाम जपि तेरौ ता तैं विपत सबै टरी ;
रसिक-भिखारी तेरे द्वार पै ठड़ौ है एकु—
रूप-रास-माधुरी की माँगत मधूकरी ।

सो ताकौं सागर जहाँ, जाकी प्यास बुझाइ। ॐ

—विहारी

नदी, कूप, सर, वापी—कुछ भी हो और वह चाहे अगाध हो अथवा औथरा (छिछिला) पर प्यास उसकी वहीं बुझेगी जहाँ कि उसका मन रम रहा हो। भला, अन्यत्र प्यास उसकी बुझ सकती है ? कदापि नहीं। उसके लिये तो वही "सागर" है, फिर चाहे वह (जल) छिछिला हो या अगाध !

हुआ लैला प मजनू ; कोहकन शीरी प सौदाई ,
मुहब्बत दिलका इक सौदा है, जिसकी जिस से बन आई।

—आजाद

प्रभो ! अनन्यता की बानगी एक और देखो, आपके भेजे हुए उस "उन्मादी-उद्धव" ने जब उन प्रेमोन्मादिनी, अनन्य उपासिनी अंगनाओं के सन्मुख, संयोग और वियोग से भी ऊपर जोग का आसन ‡ अंकित करते हुए "बेढंगा-राग" अलापा तब

ॐ उक्त दोहे पर विहारी-विहार के कर्त्ता प० अम्बिकादत्तजी की पुनीत प्रतिभा देखिये—

"जाकी प्यास बुझाई" जहाँ सोई तिहिं सागर ,
जीऐ जासु जल पीय, मतीरा सोई गुन आगर।
झरना ही को नीर भयौ ज्यौं पुर की सपति ,
"सुकवि" जलधि विनु काम तरगित अति अगाध अति।

‡ विधि कौ सिर पचम खंड भयौ, मुनि-मौर नचे कपि के मुख लेते ,
भीलनी सौं महादेव भिरे, सुरराज कौं चिन्ह भए तन केते।
उद्धव ! रावरे नैंकु सखा, उन देखे हैं ढोक गवाँरन देते ,
एक ही भोग के आसन पै, झकमारत जोग के आसन जेते।

—गोपी-प्रेम-पीयूप-प्रवाह

उन विरह-विलुलित वर बालाओं ने—आसन, यम नियम, प्रत्याहार, ध्यान और धारणा को, अनन्यता के सुन्दर आवरण से अलंकृत कर उत्तर-रूप में जो कुछ कहा, वह सुनने लायक है और मनन करने लायक है। अस्तु दिल थामकर सुनिये तो?

असी-चार-लच्छ-काम केलि के प्रयोगनु तैं,
हाँ तौ परितच्छ प्रेम-पूरन प्रबल है;
"नवनीत" प्यारे उर दृढ़ता दराज ऐसी,
गुरु जन त्रास हू तैं होत ना विचल है।
सिद्धि रूप साधन सुजान स्याम सुन्दर मैं,
लगन लगी है सो हिलाऐं न…हल है;
जोग मैं अधार ही कौ आसन विदित यहाँ—
निराधार "आसन" सनेह कौ अचल है।

यम नियम—

इड़ा पिंगला औ सुसुम्ना मैं सुगंध सचि,
साँवरौ सुखद-बीज-मंत्र लइ तामै है;
क्रम-कुल-काँति तैं बितिक्रम प्रबल प्रेम,
मौन करि प्रेम ही के साधन-सुधा मैं हैं।
स्रौन करि धामै वौ अनहद अनंद-रूप,
भेद खट-चक्र कौ अभेद-रस थामैं है;
"नवनीत" साधै बिपरीति खेचरी की रीति-
प्रीति प्रानायाम तैं परम पद पामै हैं।

प्रत्याहार—

नैंनन सौं रूप और काँनन मधुर बैंन,
चंद-मुख सुरति सुधा ही मैं भरे है;
"नवनीत" प्यारे-कर-कंजन कौ कंठ मेलि,
आलिगन आदि परिरभन धरे रहैं।

पंच-पंच इन्द्रिन के इन्द्रिन सौं जोग साधि ,
ब्यापक बियोग ही की ब्याधि तैं ढरे रहैं ,
आठौं जाम सुरत सँजोग ही सुखद साधि—
या बिधि सौं "प्रैम-प्रत्याहार" कौं करे रहैं ।

ध्यान—

प्रथम मिलन सोई पावन पदस्थ होइ ,
स्वस्थ रूप दूसरौ तनस्थ दृढ़ लाइ कै ;
त्रिकुटी मै देखिए त्रिभंगी कौ स्वयं प्रकास ,
जोति मैं अखेद स्वेद-भेद दरसाइ कैं ।
"नवनीत" दसौ दसा पूरन परम प्रैम ,
सूयातीत तुर्ज्या कौ अनंत सुख पाइ कैं ;
नैनन वस्यौ है जैसौ ललित-त्रिभंग-अंग-
बैठौ ब्रज बाम सोई "ध्यान" चित लाइ कै ।

धारना—

अचल भयौ है चित चंचलता त्यागि ऊधौ !
सूधौ सुद्ध-भाव हिएँ स्याम कौ भरत हैं ;
"नवनीत" द्रावनी तै द्रवित सरूप सुधा ,
नेह करि गेह देह वधन हरत है ।
दहनी दहाएँ अपबाद के अखिल-पुंज ,
भ्रामनी तै कुंज-केलि काम वरसत है ;
सोखनी तैं सोखन कै बासना समेट तत्व ,
ऑनद अनंद ही की "धारना" धरत है ॥

समाधि—

हरख, सोक दोहुन की अंत्यज अवस्था एकु ,
सत्व-संचारी मैं सदाँ ही तन पाग्यौ है ;

"नवनीत" मान-अपमान को पछेल बैठीं,
निंदा औ प्रसंसा सौं न नैंकु चित भाग्यौ है।
ऊँच-नीच बातन कौ कियौ ना बिचार कछू,
धूप, छाँह, सेह, गेह, काम-देह दाग्यौ है;
वरनास्रम-धरम, करम बासना बिहाइ ऊधौ!
राधौ सुद्ध स्याम की "समाधि" मन लाग्यौ है।

—गोपी-प्रेम-पीयूष प्रवाह

कहिये सरकार! है न अनुपम अनन्यता, तब ही तो इनको यह "खिताब"—पुरस्कार दिया गया था कि—

"गोपी प्रेम की धुजा",
जिननु गुपाल किए बस अपने, उरधर स्याम भुजा।
सुक मुनि व्यास प्रसंसा कीनी, उद्धव संत सराही;
भूरि-भाग गोकुल की बनिता, अति पुनीत जग माही।
कहा भयौ विप्र-कुल जनम्यौ, सेवा सुमरन नाहीं;
स्वपच पुनीत 'दास परमानंद" जो हरि सनमुख जाहीं।

ओह कितनी ऊँची अनन्यता है? कितना सुन्दर तबीयत तड़पा देने वाला तदात्म भाव है? इस प्रेम-मय अनन्यता का कुछ ठिकाना है वाह? जिस भावमयी-भावना द्वारा चराचर प्रियतम स्वरूप ही दिखाई दे, दूसरे के प्रति कुत्सित-कल्पना, स्वप्न में भी न उठे; उस "अनन्यता" को धन्य है—धन्य है।

कानन दूसरौ नाम सुनैं नहिं, एकुही रंग रँग्यौ यह डोरौ;
धोखैहुँ दूसरौ नाम कहै, रसना मुख बाँधि हलाहल बोरौ।
"ठाकुर" चित्त की वृत्ति यही, हम कैसैहुँ टेक तजैं नहि भोरौ;
बावरी! वे अँखियाँ जरि जाँइ, जो साँवरौ छाँड़ि निहारितीं गोरौ।

जिनके कोमल-कलेजे में आपके अतिरिक्त और को ठौर

नहीं, जिनने आपके साँवले-सलोने स्वरूप का काजल ❀ अपने कमलाक्षों मे लगा लिया है, जो कि आपके इस काले-कलूटे रंग के अतिरिक्त गोराई की तरफ आँख भी नहीं उठातीं, प्यारे! उनकी अनन्यता का कुछ ठिकाना है।

तुझे देखें तो फिर औरों को किन आँखों से हम देखें;
ये आँखें फूट जायें गर्चे इन आँखों से हम देखें।

—कोई शायर

जिन पुनीत-पुतलियों में आपकी अनोखी-छवि (जरासी ही सही) छा गयी, अथवा खिच गयी—अंकित हो गयी, उस में फिर अन्य को आसरा कहाँ? कहीं निजत्व मे परत्व की प्रतिभा परखायी जाती है? नहीं, नहीं अपितु—

पीतम-छबि नैननि बसी, पर-छबि कहाँ समाइ,
भरी सराइ "रहीम" लखि, आप पथिक फिरि जाइ। †

भैया! सच बात तो यह है कि—जिन रमणीय आँखों में

❀ "देव" मसोसि बसायौ सनेह सों, भाल मृगम्मद बिन्दु कै भाख्यौ,
कचुकी मैं चुपरौ करि चोवा, लगाइ लयौ उर सा अभिलाख्यौ।
लै मखतूल गुहे गहने, रस-मूरतवत सिंगार कै चाख्यो,
साँवरे-लाल कौ साँवरौ रूप, मैं नैननि कौ कजरा करि राख्यौ।

† रहीम के इस अनुपम रत्न को स्वर्गीय कवि "नवनीत" जी ने अपनी कुण्डलिया रूपी कुन्दन में यों जड़ा है। यथा—

"आपु पथिक फिरि जाइ", जहाँ पे ठौर न होई,
त्यौंही चखन-चकोर, चंद तजि तकै न कोई।
पिय "नवनीत" अनूप रूप की रासि रही फबि,
इन नैन मे बसी लसी वह पीतम की छबि।

आप रम जाओ—जरा भी समा जाओ, उनमें अन्य आही नहीं सकता, समाही नहीं सकता—

अजन देहु तौ किरकिरौ, सुरमहु दयौ न जाइ;
जिन आँखिन सौं हरि लख्यौ, "रहिमन" वलि-वलि जाइ।

अथवा—

"कबिरा" काजर-रेख हू, अब तौ दई न जाय:
नैनन पीतम रमि रह्यौ, दूजा कहाँ समाय।

बकौल "कबीरजी" के हमारे भैया "वियोगी-हरिजी" फरमाते हैं कि—काजल वा सुरमा तो साकार वस्तु है—चीज है, अरे अनुराग से आलुलायित आँखों में निराकार नींद की भी गुंजाइश नहीं, उसको भी मुतलक जगह नहीं—

आठ पहर चौसठ घरी, मेरे और न कोय;
नैना माँही तू वसै, नींदहि ठौर न होय।

नाथ! आपके अनन्य भक्त गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी अपने एक पद में अपनी चंचल-इन्द्रियों को अनन्यता की दृढ़-डोरी में बाँधते हुए कहा था—

जानकी-जीवन की वलि जैहौं:
चित कहै राम-सीय-पद परिहरि, अब न कहूँ चलि जैहौं।
उपजी उर प्रतीति सपनेहुँ सुख, प्रभु-पद विमुख न पैहौं;
मन समेत या तन के बासिन्ह, इहै सिखावन दैहौं।
स्रवननि और कथा नहि सुनिहौं, रसना और न गैहौं;
रुकिहौं नैन बिलोकत औरहि, सीस ईस ही नैहौं।
नातौ-नेह नाथ सौं करि सब, नातौ-नेह बहैहौं;
यह घर-भार ताहिं "तुलसी" जग, जाकौ दास कहैहौं।
—विनय-पत्रिका

अर्थात्—मैं (केवल) श्रीजानकी के जीवन रघुनाथजी पर ही बलि जाऊँगा—न्यौछावर होऊँगा। श्रीसीतारामजी के पुनीत-पादारविन्द का परित्याग कर और किधर भटकता फिरूँगा ? कहाँ इधर-उधर भ्रम-वश दौड़ता फिरूँगा ? नहीं-नहीं अन्यत्र का आसरा त्याग वही निश्चल हो जाऊँगा क्योंकि—हृदय में कुछ ऐसी अनुपम धारणा बँध गयी है, धारणा से हृदय कुछ अनोखा-धूसरित हो गया है कि उन (श्रीराम) के श्रीचरणो से चंचल-चित्त हटाकर, उनसे विमुख होकर, जागते की तो क्या बात, स्वप्न मे भी कहीं अन्यत्र सुख न पा सकूँगा। अब न तो इन कानों से किसी और की कहानी सुनूँगा ! चर्चा सुनूँगा ! और न इस रस-रंजित रसना से किसी और का गुण-गान ही करूँगा। दूसरे की तरफ निहारते हुए इन नेत्र द्वय को मोड़ लूँगा, किसी को बरबस देखते हुये उधर से फेर लूँगा, नही देखने दूँगा ? नही देखने दूँगा ? देखूँगा तो केवल श्रीराम की ही ओर; उस तरफ ही चकोर की तरह टकटकी लगाये निहारता रहूँगा, उन्हीं को देखता रहूँगा। मस्तक भी उन्हीं को झुकाऊँगा। उनके साथ नेह-नाता जोड़कर अन्य नातों (सम्बन्धो) को बहा दूँगा—तोड़ दूँगा। अब तो इन सारी बातो का भारी भार उन पर ही है, जिनका कि मै अनन्यदास, भक्त, सेवक हो रहा हूँ—बन रहा हूँ अथवा कहा रहा हूँ। क्योकि—

नाहिन रही मन मै ठौर ;
नंद-नदन अछत कैसैं, आनिऐं उर और।
चलत, चितवत, दिवस जागत, सपन सोवत राति ,
हिए तै वह स्याम मूरति, छिन न इत-उत जाति।

कहत कथा अनेक ऊधौ! लोग लोभ दिखाइ;
कहा करौ मन प्रेम-पूरन, घट न सिन्धु समाइ।
स्याम-गात, सरोज-आनन, ललित-गति मृदु-हास;
"सूर" इनके दरस कौ बलि, मरत लोचन प्यास।

अथवा—

सब जग तजे प्रेम के नाँते;
चातक स्वाँति-बूँद नहिं छाँड़ति, प्रगट पुकारत ताते।
समुझत मीन नीर की बातै, तजत प्रान हठि हारत;
जानि कुरंग प्रेम नहिं त्यागत, जदपि ब्याध सर मारत।
निमिष चकोर, नैन नहिं लावत, ससि जोअत जुग बीते;
ज्योति पतंग देखि बपु जारत, भए न प्रेम-घट रीते।
कहि अलि! क्यौ बिसरत वे बातैं, सँग जो करी ब्रजराजै;
कैसै "सूर" स्याम हम छाँड़ैं, एकु देह के काजै।

—सूरसागर

हे अनघ! आपकी इस अवर्णनीय-अनुपम-अनन्यता के उन्माद में बहक कर—अनन्यता रूप उज्वल आह्लाद से अभिषिक्त आन्दोलन की बहिया में बह कर कहाँ का कहाँ चला आया! अनन्यता के भाव से विभोर हो किधर बहक गया! भीष्म-पितामह के निर्निमेष नेत्र द्वय के सन्मुख खड़ी उस भव्य-भाव-मयी छवि को छोड़ कर दूसरी ही छवि पर—और ही छबीली-छटा पर टूट पड़ा—

दिल को खुद छेड़े जो वह, तिर्छी-नजर तो क्या करूँ,
चैन से रहने न दे, दर्दे-ज़िगर तो क्या करूँ।

—नज़ीम

अस्तु, नाथ! भीष्म के सामने समुपस्थित वाली जैसी "रीझ-

मयी खीझ" का, कुछ ऐसी ही खूबियों से खचित तस्वीर का— शोखी भरे सरापे का आनन्द, एक दफे और आँखों को उलझ चुका है; बरबस खींचकर अपनी ओर अटका चुका है। लेकि "तुम्हे याद हो कि न याद हो"॥। जैसे कि—

॥ "तुम्हें याद हो कि न याद हो" इस काफिये पर भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की एक कृति बड़ी अनुपम है, जैसे कि—

वह नाथ! अपनी दयालुता, तुम्हे याद हो कि न याद हो,
वह जो कौल भक्तों से था किया, तुम्हे याद हो कि न याद हो।
सुनी गज की जैसे ही आपदा, न विलम्ब छिन का सहा गया,
वहीं दौड़े उठके पियादे—पाँ, तुम्हे याद हो कि न याद हो।
व जो चाहा लोगों ने द्रोपदी की कि शर्म उसकी सभा में लें,
व बढ़ाया वस्त्र को तुमने जो, तुम्हें याद हो कि न याद हो।
व अजामिल एक जो पापी था, लिया नाम मरते पै बेटे का,
व नरक से उसको बचा लिया, तुम्हे याद हो कि न याद हो।
व जो गीध था, गनिका व थी, व जो व्याध था, व मल्लाह था,
इन्हें तुमने ऊँचों की गति जो दी, तुम्हें याद हो कि न हो।
खाना भील के व जूठे फल, कहीं साग दास के घर पै चल;
यूँही लाख किस्से कहूँ मैं क्या, तुम्हें याद हो कि न याद हो।
जिन वानरों में न रूप था, न गुण ही था, न जात थी;
उन्हे भाइयों का-सा मानना, तुम्हें याद हो कि न याद हो।
व जो गोप गोपी थे ब्रज के सब, उन्हें इतना चाहा कि क्या कहूँ;
रहे उनके उलटे रिनी सदा, तुम्हें याद हो कि न याद हो।
कहो गोपियों से कहा था क्या, करो याद गीता की जरा;
यानी वादा भक्त-उद्धार का, तुम्हें याद हो कि न याद हो।
ये तुम्हारा ही है "हरिचंद" जो फसाद में जग के बन्द है,
व है दास जन्मों का आपका, तुम्हें याद हो कि न याद हो।

मैया ! मोहि दाऊ बहुत खिझायौ ;
मोसौं कहत मोल कौ लियौ तू जसुमति कब जायौ ।
कहा कहौं या रिस के मारैं, खेलन हौं नहि जातु ;
पुनि-पुनि कहत कौन माता तो, कौन तिहारौ तातु ।

क्योंकि—

गोरे नंद, जसोदा गोरी, तुम कत स्याम-सरीर ,
चुटकी दै-दै हँसत ग्वाल सब, सिखै देति बलबीर ।
तू मोही कौ मारन सीखी, दाऊहि कबहु न खीझी ;
मोहन कौ मुख-रिस-समेत लखि, जसुमति मन अति रीझी ।

अस्तु—

सुनहु स्याम बलभद्र चबाई, जनमत ही कौ धूत ;
"सूर" स्याम मोहि गोधन की सौं, हौं माता, तू पूत ।

—सूरसागर

भैया ! आपकी एक चञ्चल-छवि और भी दिल में टुपक रही है यानी छुप रही है—निराले नाज से अदा का उभाड़, उभाड़-उभाड़कर, हृदय को बरबस अपनी ओर आकर्षित कर रही है। देखिये न—

मैया ! मैं न चरैहौं गाइ ;

क्योंकि—

सगरे ग्वाल घिरावत मोसौं, (और) मेरे पाँइ पिराइ ।
जो न पत्याइ पूँछ बलदाउहि, अपनी सौंह दिवाइ ;
यह सुनि सुनि जसुमति ग्वालन कौं, गारी देत रिसाइ ।

जैसे कि—

मै पठवति अपने लरिका कौं आवै मन बहराइ ;
"सूर" स्याम मेरौ अति बालक, मारत ताहि रिगाइ ।

—सूरसागर

हाँ-हाँ मैया ! यह भी कोई बात है कि मन बहलाने को बालक भेजा जाय और फिर उसे गाय घिराने के मिस ही मिस रेंगाइ-रेंगाइ अर्थात् चला-चला—दौड़ा-दौड़ाकर कयामत बर्पा कर दी जाय। ग्वाल-बाल थोड़े भी नहीं सब-के-सब अपने "जनरेली-आर्डर" द्वारा नन्हे से बालक को पाँ-पिराने पर भी दौड़ाते हैं, वाह—अच्छा मज़ाक कर लिया ! खूब धींगा-धींगी रही ! लेकिन मैया ?

बनने, बिगडने रूठने, हँसने मे लुत्फ़ है ;
जब तक कि छेड़-छाड़ न हो, कुछ मज़ा नहीं।

—असीम

अस्तु, सरकार ! पहिले यह तो बतलाइये कि—"दाऊ दादा" ने मज़ाक में—

"गोरे नंद, जसोदा गोरी, तुम कत स्याम-सरीर"

—कह दिया, तो कौन-सा गजब कर दिया, जो कि—झटपट डबडबाई-आँखों से अठखेलियाँ खेलते, मैया के सामने जाकर शिकायत का दफ्तर खोल दिया—आँसुओं की धारें बहाकर कयामत का नजारा दिखा दिया, लेकिन जनाब ! जब उन गँवारी-गोप बालाओ ने दान माँगते समय ऐसी ही मन-भावनी-बेजा-हरकतें की तब हुजूर के कान पर जूँ भी न रेंगी—जरा भी त्योरी न बदलते बना यथा—

गोरे श्रीनँदराइजू हो..., गोरी जसुमति माइ ;
तुम या ही तै साँवरे (लाला !) ऐसे लच्छिन पाइ।

—हरिरायजी

—कहिये-कहिये—हुजूर ! कुछ इसका जवाब दीजियेगा ?

या फिर माता के सामने जाकर शिकायत का शरूर समुपस्थित कीजियेगा। बतलाइये न, जब कि—माता-पिता (इधर-उधर यानी नंद-जशोदा और वसुदेव-देवकी) दोनो ही गोरे चिट्टे खूबसूरत, तब आप ही "काले-कलूटे" क्यो ? आपका ही साँवला-सलोना स्वरूप क्यो ? बतलाइये साहब ! बतलाइये न......, क्यो सरकार ! यदि बतलाने मे—इसका सबब बयान करने मे, यदि कोई कमनीय-कारण हो, कोई अन्दरुनी वाकया हो तो न बतलाइये, कहने मे कुछ संकोच हो तो न कहिये, जाने दीजिये, पर ये आपके मुँह लगी ललित-ललनायें क्यों मानने लगी। ये तो तालियाँ पीट-पीटकर इस काले-रंग पर एक और "फतवा" पढ़ने लगी—एक नये ही शिगूफे का शोर मचाने लगी कि—

जसोदा नैं कारी अँधेरी मैं जायौ ;
जासौ कारौ ही कृष्ण कहायौ।

—कोई कवि

भगवन् ! सच बात तो यह है कि—आपके इस काले-रंग पर, चाहे कोई फबतियाँ फड़काये, अथवा इसे आपके साथ "उपहास" करने का—मखौल करने का, साधन बनाये, पर है ये अनोखा रंग—

"'सूरदास" की कारी-काँमरि चढै न दूजौ रंग"

भैया ! यह आपके काले-रंग की ही कमनीय करामात है कि अनेक गोरे-चिट्टे, शुभ्रवर्णवाले साधु-संत आपकी कलोछी मे रंगने को अपना परम सौभाग्य समझते हैं; उसमें रँगने के लिये तड़प जाते हैं—बेचैन बने रहते हैं ; क्योंकि श्याम की श्यामता में सराबोर हुये बगैर कोई शुभ्र हो ही नहीं सकता, उजला

हो नहीं सकता। तुम्हारी ध्यान धारणा के बगैर तबीयत की तमोगुणी-कलुषता—श्यामता, साफ हो ही नहीं सकती। सुना जाता है कि—जहर को जहर ही मारता है, दूर करता है; तो क्या इस कारण ही आप श्याम-शरीर हो गये! पर, काले रंग में डूबने से "सफेद" हो जाना है, बड़े आश्चर्य की बात है, निहायत विरोधी बात, पर—

या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहिं कोइ,
ज्यौं ज्यौं बूड़ै स्याम रँग, त्यौं-त्यौं ऊजरु होइ। ❀

—विहारी

ओह! कितना विरोधाभास है, कितनी विपुल-विलक्षणता है; काले रंग मे डूबने से—रँगने से, काला होना चाहिये या सफेद! पर, यह सब आपके अनुराग-विज्ञान की ही करामात है कि ज्यों-ज्यो आपके—

"नीलोत्पल-दल-स्याम"

—रंग में रँगे, त्यों-त्यो अधिकाधिक उज्ज्वलता अख्तियार करता जाय, धन्य हैं प्रभो! धन्य! विज्ञानी इसे अपने रासायनिक-प्रयोग की प्रक्रिया द्वारा वर्ण-विपर्यय की विपरीतता को सन्देह की दृष्टि से भले ही देखें, परन्तु "प्रेम-विज्ञान" मे इस गरूर की गुञ्जायश नही! क्योकि—

❀ विहारी के उक्त दोहे पर प० अम्बिकादत्तजी की अनुपम उडान भी देखिये—

"त्यौं-त्यौं ऊजरु होई" स्याम-रँग ज्यौं-ज्यो डूवै,
आनँद-रस सरसात, नाहि पुनि कछु हूँ ऊवै।
और रंग नहिं चढै, स्याम लहि सो वड भागी,
"सुकवि" समझि को सकै, भयौ चित जो अनुरागी।

"प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्" !

अर्थात् "श्याम-सुन्दर" के श्याम रंग में अपने मलिन मन को डुबा देखिये, उज्ज्वल होता है या नहीं ?

प्यारे श्याम सुन्दर ! आपकी साँवली सलोनी अनुपम छटा, इन निठल्ले भक्तों के राग-रञ्जित आँखों में बरबस छा गयी है। वे जिधर भी देखें, श्याम-मय ही पाते है। यहाँ तक कि—

घर-घर घाटन मैं, बाटन मैं, कुंजन मैं,
कहै रूप गुजौ अनुरूप कहा डोलौं मैं ;
"बैनी कवि" गातन मै बस्यौ गोदना के मिस—
रिस करि बातन मैं कहा-कहा छोलौ मैं।
मसकि मसूसन सौ मारौं मन कौलौं, कोऊ—
हितू ना हमारौ जासौं बिलग न बोलौ मैं ;
मूँदो स्याम-पुतरी, उघारि देखो साँवरौ मैं,
मेरौ अपराध आँख मूँदौ किन खोलौ मैं।

अथवा—

बैर बढ़े तै बढ़ै अति ही, अब को कहिकैं कढि कौन सौं जूझै ;
जैसी भई हरि हेरत ही, सुतौ को हिय की, जिय की गति बूझै।
बाहर हू, घर हू मैं सखी ! अँखियाँनि वहै-छबि आनि अरूझै ;
साँवरौ-रंग रह्यौ उर मैं, सिगरौ जग साँवरौ ही साँवरौ सूझै।

—कोई कवि

साँवले रंग के जौहर बड़े जालिमाना हैं, यह रंग चढ़ने पर फिर क्या किसी के काम का रह सकता है। यह तो एक-दम तन-मन की सुधि भुला बावला बना देता है—बावला ! देखिये न—

गाइकैं तान, बजाइ कैं बाँसुरी, मोहि कैं मौंहनी मो-सिर दीन्हीं ;
ऐंठि कै पाग, उमैंठि कैं पेचनि, टेढ़ी सी चाल चलै रस-भीनी।

रीझि रिझाइ कैं जात भए, "मकरंद" कहौ सु कहा गति कीन्हीं ;
जावरी ! कापर नाँवरी बूझति, साँवरी-सुरति बावरी कीन्ही।

प्यारे श्यामसुन्दर ! ऐसा अनोखा रंग कहाँ से पाया ! कैसे मिला ! किसने दिया ! कुछ बतलाओ तो ! क्या न बतलाओगे ! बड़े मिजाजी हो—निहायत घमंडी हो, मुमकिन से जियादह मगरूर हो ! अच्छा साहब ! न बतलाइये, कुछ न कहिये, हम सब पता लगा लेंगे। इसके कमनीय-कारण को अँधेरे में छिपे रहने पर भी खोज-ढूँढ़ कर निकाल लेंगे, आप न बतलाइये। अरे लो हमी आपके इस श्याम रंग पाने की—इस रंगामेजी की सारी कलई खोले देते हैं, जैसे—

कजरारी-अँखियाँनि मै, बस्यौ रहत दिन-रात ;
पीतम प्यारौ हे सखी ! या तै साँवल-गात।

—नागरीदास

सुना साहब ! कहिये कैसा पता लगा लिया, सच बात तो यह है कि—चोर अपने को कितना ही छिपाये, अंधकार में कितना ही अलंकृत रहे पर छिप नही सकता, दुपका नही रह सकता। वाह...सरकार ! कज्जल-कलित ललित-लोचनों में दिन-रात एक छण भी इधर-उधर नहीं छिपकर बसे रहे ! पर, बलिहारी नाथ ! आपकी इस चतुराई पर, खूब काले कलूटे होकर निकले। वाह... खूब साँवले सलोने बन बैठे।

भैया ! वह देखो, आपकी परम भक्त बाई "मीरा" अपने नैनों मे बसने की पुनीत प्रार्थना पुकार-पुकार कर, कर रही है, परन्तु उधर जाना नहीं ! क्योकि अभी तो एक प्रेम-पुत्तलिका की ही आँखो मे अलंकृत होने से यह अनोखा अहवाल हुआ है,

अगर फिर कहीं किसी की आँखों में बसने से इससे भी ज्यादह रंग चढ़ गया, और भी गहरा हो गया—आबनूस के कुन्दे की तरह और काले हो गये तो कन्हैया ! गजब हो जायगा गजब ! अस्तु जो कुछ वह कहती है उसे दूर से ही सिर्फ सुन लेना, जाने का, वहाँ बसने का, करद न करना। हाँ तो वह क्या कहती है—

वसौ मेरे नैननि मैं नँदलाल,
मोहनी-मूरति, साँवरी सूरति, नैना वने बिसाल।
अधर-सुधा-रस मुरली राजत, उर बैजन्ती-माल,
छुद्र-घंटिका कटि-तटि सोहत, नूपुर-सबद-रसाल।
"मीराँ" के संतत सुखदाई, भक्त-बछल-गोपाल।

भैया ! और लो, "मीराबाई" के साथ-साथ आपका एक और भक्त भी किसी गोपिका के घर से माखन चुराकर छिपने के लिये भागने पर, किसी और जगह की तलाशी के पेस्तर, अपने कलुषित-मानस की कालिमायुक्त कोठरी में, अँधेरे मकान में, जहाँ कि कोई भी न देख सके (छिपने के लिये) किस प्रकार आल्हादित हो आह्वान कर रहा है, आपको बुलाता हुआ कह रहा है, कि—

क्षीरसारमपहृत्यशंङ्कया यदि पलायितुमच्छसि माधव !
मानसे मम नितान्ततामसे किन्न नंदनंदन ! गच्छसि।*

—कस्यचित्कवे

* उक्त संस्कृत की सरस-सूक्ति पर "पद्माकर" का प्रखर प्रताप भी परखिये, जैसे कि—

ए ब्रजचंद ! गोबिन्द-गुपाल ! सुनौं, न क्यौं केते कलाम किए मैं,
त्यौं "पदमाकर" आनँद के नद, हौ नँद-नदन जानि लिए मैं।
माखन-चोरी के खोरनि है, चले भाजि कहू भै मानि जिए मैं,
दूरि ही दौरि दुरौ जो चहौ, तौ दुरौ किन मेरे अँधेरे-हिए मैं।

अर्थात् हे नंदनंदन। मक्खन चुरा कर डर के मारे यदि कहीं छिपने के लिये आप भाग रहे हो—किसी अन्धेरे-स्थान में जहाँ कि कोई देख न ले छुपना चाहते हो, तो मेरे मोह और अज्ञान के अन्धकार से अलंकृत मन-मानस मे आकर—पधार कर क्यों नही छिप जाते। इससे बेहतर जगह आपको छिपने के लिये अन्यत्र कहाँ मिलेगी! अस्तु आईये न.................
क्योंकि यहाँ तो—

मी गुज़रद ईं दिलरा, वे दिलदार ;
इक-इक साअत हम चूँ, साल हजार।

—रहीम

लेकिन माखन-चोर! न आईये—न आईये; क्योंकि आपका और आपके इस काले कलूटे रंग का अब विश्वास नहीं रहा, अरे इसे तो गरबीली-गोपियो के "फुल-बेन्च" से "पहिले ही सार्टी-फिकेट" मिल चुका है, जैसे कि—

सखीरी! स्याम सबै इक सार ;
मीठे बचन सुहाए बोलत, अन्तर-जारन-हार।
भँवर, कुरंग, काम औ कोकिल, कपटिन की चटसार ;*

—सूरसागर

* सूरदासजी की उक्त उक्ति सम्पूर्ण इस प्रकार है—
कमल-नैन मधुपरी सिधारे, मिट गए मगलचार।
सुनहुँ सखी री! दोप न काहू, जो विधि लिखी लिलार ;
इहि करतूत इनहिं की नाँई, पूरब विविध-विचार।
उँमगी-घटा, नाँखि आवैं पावस, प्रेम की प्रीति अपार ;
"सूरदास" सरिता, सर पोखत, चातक करत पुकार।

अथवा—

समझि मधुप, कोकिल की, यह रस-रीति ;
सुनहु स्याम की सजनी ! का परतीति ।

—रहीम

धन्य भगवन् ! आप तो आप और बगल चाप, अथवा—"आपन डुबता बाम्हना, संग जिजमान लै डुब्बे"। कपट करें आप, और कपटी होने की उपाधि मिले सब काले रंग वालों को; सम्पूर्ण सवर्णीय रंग वालों को ! कुटिलता की आपने, और लद गये बेचारे भ्रमर, कुरंग, कोकिल आदि काले रंग वाले सब, वाह... खूब रही ।

और करइ अपराध कोउ, और पाव फल-जोग ,
अति बिचित्र भंगवत-गति, को जग-जानइ-लोग ।

—तुलसीदास

अपराध को आलिंगन कोई और करे, लेकिन फल फलित हो दूसरों को, धन्य भगवन् ! आपको, और आपकी विचित्र गति को ! संसार में इसे जानने योग्य कोई है ?

भैया ! आपके इस काले कलूटे रंग पर "रघुनाथ" कवि भी एक दूर की कौड़ी लाये हैं—साँवले रूप-रंग पर उनको भी दूर की सूझ सूझी है, जैसे—

काछौ कछै पट-पीत कौ सुन्दर, सीस धरै पगिया रँग-राती ,
हार गरे बिच गुंजन कौ, अलकै छिति-छोरन लौं छहराती ।
खेलत ग्वालन सौं "रघुनाथ" औ डोलै गलीन मैं अति उतपाती ,
जो रँग साँवरौ हो तो न ईठि, तौ काहू की डीठि कहूँ लगि जाती ।

चलो यह भी अच्छा ही हुआ, "श्यामसुन्दर" ऊधमी और उत्पाती तो थे ही अस्तु—नित्य "नज़र" लगने का उत्पात और

खड़ा हो जाता तथा मैया को राई-नोन उतारते-उतारते हैरान हो जाना पड़ता अतः—

"न रहेगा बाँस और न बाजेगी बाँसुरी"

उफ ! नाथ ! आपकी एक अपूर्व झाँकी तो भूल ही गया, आपकी इस रंगामेजी की रँग-रेली में, वह जी तड़पा देनेवाली तस्वीर तो तबीयत से उतरी ही जाती थी। वह रीझमयी खीझ भी भूलने लायक नहीं है नाथ ! वह तो हृदय-पटल पर अङ्कित करने योग्य है—वह तो भाव की तूलिका से प्रेम-रंग द्वारा नित्य नवीनता से युक्त होकर चित्रित करने योग्य है ! अस्तु—

"गुर्वर्थे त्यक्तराज्यो......"

—के कमनीय कार्य के अनन्तर जब "सरयू-तीर" पर खड़े-खड़े, पार उतरने के लिए लालायित हो "नाव" माँगी जा रही थी और उस केवट के नाव न लाने पर तथा "पुर-मजाक" उत्तर देने पर, जो हृदय-हारी "रीझ-भरी-खीझ" का मजा आया था; वह क्या भुलाये भूल सकता है ! देखिये न गोस्वामी तुलसीदासजी उसका कैसा सुन्दर शाब्दिक-चित्र चित्रित करते हुए कहते हैं—

माँगी नाव न केवट आना, कहइ तुम्हार मरम मैं जाना।
चरन-कमल-रज कहँ सब कहई, मानुष करन मूरि कछु अहई।
छुअत सिला भई नारि सुहाई, पाहन तैं न काठ-कठिनाई।
तरनिउँ मुनि-घरनी होइ जाई, बाट परइ मोरि नाव उड़ाई।
एहि प्रतिपालउँ सब परिबारू, नहि जानउँ कछु अउरु कबारू।
जौ प्रभु पारु अवसि गा चहहू, मोहि पद-पदम-पखारन कहहू।

पद-कमल धोइ, चढ़ाइ नाव, न नाथ ! उतराई चहउँ,
मोहि राम राउरि आनि, दसरथ-सपथ सब साँची कहउँ।

बरु तीर मारहु लषन, पै जब लगि न पाँय-पखारिहउँ ,
तब लगि न "तुलसीदास" नाथ! कृपालु पारु-उतारिहउँ ।

सुनि केवट के बैन, प्रेम-लपेटे-अटपटे ;
बिहँसे करुना-ऐन, चितइ जानकी-लषन तन ।

कृपा-सिन्धु बोले मुसुकाई, सोइ करु जेहि तव नाव न जाई ।
बेगि आनु जल पाँय-पखारू, होत बिलम्ब उतारहु पारू ।

अर्थात्—नाव माँगने पर, नाविक नाव न लाया और "टका सा जवाब" देते हुए कहने लगा कि जनाब ! मैं आपका सारा-मरम, सम्पूर्ण रहस्य, जानता हूँ; आपके अन्दुरूनी-अन्दाज को—भारी भेद को मैं समझता हूँ, और कोई क्या समझेगा। अस्तु नाव-वाव लाने के लिये क्षमा कीजिये, अथवा नाव पर चढ़कर पार पहुँचने की आशा-प्रत्याशा का परित्याग कीजिये, क्योंकि इन चरण-कमल की कमनीय रज को इसके कोमल-कणिका को सब कोई मनोहर मनुष्य बनाने की कुछ अजीब चीज समझते है—सजीवन-मूरि मानते हैं, कोई अपूर्व औषधि होने का अन्दाज आँकते हैं, कि जिसके छूने से, स्पर्श करने से पत्थर भी सुन्दर-स्त्री हो जाते हैं, फिर यह काठ की नाव उस (शिला) से कठिन नही हैं, कुछ कड़ी नहीं है, अपितु कोमल है ? अतः मेरी यह नाव यदि मुनि-पत्नी की तरह कहीं स्त्री हो गयी तो कुटुम्ब के कालयापन के लाले पड़ जायँगे ! जीविका का सहारा ही काफूर हो जायगा ? आजी-विका का अन्त ही आ जायगा ? मैं तो इस के ही सहज-सहारे अपने सारे परिवार का पालन करता हूँ, कुछ और उद्यम आता-जाता नहीं इसलिये प्रभो ! यदि आप, अवश्य ही पार पहुँचना चाहते हैं अथवा नाव पर चढ़ने को लालायित हैं तो—

"मोहि पद-पदम पखारन कहहू"

यानी अपने पाद-पद्म पखारने की परवानगी प्रदान कीजिये, इन धूल-धूसिरित श्री चरणों के धोने की आज्ञा से अलंकृत कीजिये। नाथ! मै कुछ पार पहुँचाने की उतराई (मजदूरी) नही माँगता ? और न इन—

"कोमल चरन-सरोज"

—के धोने की ही धृष्टता ध्यान मे लाता! पर लाचार हूँ सरकार! क्योंकि लोग वागों ने आपके पाद-पद्म की पावन-धूलि को मनुष्य निर्माण करने का एक "नुस्खा" सा निनादित कर रखा है—औषधि रूप से आविर्भाव कर, प्रसिद्ध कर दिया है, इस लिये—

क्षालयामि तव पाद-पङ्कजं ,
नाथ! दारुदपदो किमन्तरम् ;
मानुषी करणरेणुरस्तिते—
पादयोरिति कथा प्रथीयसी।

—अध्यात्म रामायण

दारु—काठ और पाषाण मे कुछ अन्तर भी तो नहीं है अपितु यह (काष्ठ) पाषाण से कोमल ही है, इसे मनुष्य बनते क्या देर लगेगी। इस लिये श्रीमान्! आपके भाई लक्ष्मण चाहे तीर मारें या तलवार, पर मैं आपकी और बड़े महाराज दशरथजी की कसम खाकर कहता हूँ कि बिना पाद-प्रक्षालन किये नाव पर न चढ़ाऊँगा, न चढ़ाऊँगा।

वफ़ादार बन लो तुम आप अपने मुँह से ,
मुझे याद हैं सब जफ़ायें तुम्हारी। —दाग

भगवन् ! आपकी इस "खीझ-भरी-रीझ" का चारु चित्र "तुलसीदास" ने एक जगह और खीचा है, जैसे—

रावरे दोष न पाँइन कौ, पग-धूरि कौ भूरि प्रभाउ महा है,
पॉइन तैं बन-बाहन काठ कौ कौमल है, जल खाइ रहा है।
पावन पॉइ पखारि कै नाव, चढाइहौ आयुस होत कहा है,
"तुलसी" सुनि केवट के बर-बैन, हँसे प्रभु जानकी ओर हहा है।

पात-भरी सहरी, सकल सुत बारे-बारे,
केवट की जाति कछू वेद ना पढ़ाइ हौं ;
सब परिवार मेरौ याही लागि राजा जू !
दीन वित्त-हीन कैसै दूसरी गढ़ाइ हौं।
गौतम की घरनी ज्यौं तरनी तरैगी मेरी,
प्रभु सौं निषाद ह्वै कै बाद न बढाइ हौं ;
"तुलसी" के ईस राम रावरे सौं साँची कहौ,
बिना पग धोएँ नाथ ! नाव ना चढ़ाइ हौं।

तिनकौ पुनीत बारि धारे सिर पै पुरारि,
त्रिपथ गामिनी कौ जसु बेद कहै गाइ कैं ;
जिनकौ जोगिन्द्र, मुनि-बृन्द, देव देह भरि,
करत बिराग, जप, जोग मन लाइ कैं।
"तुलसीदास" जिनकी धूरि परसि अहिल्या तरी,
गौतम सिधारे गृह गौनौ सौ लिवाइ कैं ;
तेई पाँय पाइ कै चढाऊँ नाव धोए बिनु,
ख्वैहौ न पठावनी कै ह्वै हौ न हँसाइ कैं।

श्रीमान् ! आपके इस चारु चित्र निरखने को "सूरदास" जी भी मचल पड़े। यह भी न माने और "केवट" की इस मन-भावनी बेजा हरकत पर बोल ही पड़े कि—

भैया केवट! लै उतराई ;
रघुपति महाराज इत ठाड़े, तै कित नाव दुराई।
अबहिं सिला तैं भई देव-गति, जब पग-रैनु छुवाई ;
हौं कुटंब कैसैं प्रतिपारौ, जदि वैसी ह्वै जाई।
जाके चरन-रैनु की महिमा, सुनियतु अधिक बडाई ;
"सूरदास" प्रभु अगनित महिमा, वेद, पुरानन गाई।

अथवा—

नौका, नाही हौ लै आउँ ;
प्रगट प्रताप चरन कौ देख्यौ, ताहि कहाँ लौ गाउँ।
कृपा सिन्धु पै केवट आयौ, काँपत करत जु बात ;
चरन-परसि पाषान उडत है, मति मेरी उड़ि जात।
जो इहि बधू होइ काहू की, दार-सरूप धरैं ;
छुटै देह जाइ सरिता तजि, पगसौ परस करै।
मेरी सकल जीविका या मैं, रघुपति! मुक्ति न कीजे ;
"सूरदास" प्रभु चढ़िऐ पाछै, रैनु-पखारन दीजै।

श्रीसूर के निम्न पद पर "प्रेमरंगजी" का भी एक पद बड़ा सुन्दर है, यथा—

कहै केवट, प्रभु सौं मत छूवौ पाँइ सौं नाई ;
सुनियतु पाथर नारि करी है, मेरी यही कमाई।
कठवा माहि नव चरन धराए, गोद लए बैठाई ;
डरत डरत पै पार उतारे, रीझे श्रीरघुराई।
कर-भूषन उतराई दीनीं, ताही कर नहि लाई ;
नाई सौ नाई न लेति मुडाई, ज्यौ मलाह मल्हाई।
तुम तारत भवसागर जन कौं, हम उतारत धर नाई ;
"प्रैमरंग" प्रभु कछुव न दीनौ, हँसि मलाह गर लाई।

अथवा—

चरनन की महिमा, मैं जानी,
प्रगट सिला तै निकसी सुन्दरि, पद-परसत गौतम-रानी।
देखि चरित चकित भयो धीवर, नाव लई गहरे पानी;
चरन-प्रछाल चढ़ौ तुम रघुबर! दीन बचन बोलत बानी।
तरनी मेरी तारौ तुम तौ, होइ सकल कुटंब की हानी;
"कृष्णदास कटहरिया" के प्रभु कहा जानैं नर अभिमानी।

मेरो नौका जिन चढ़ौ, त्रिभुवन-पति-राई,
मो देखत पाहन उड़े, मेरी काठ की नाई।
मैं खेवत हो पार कौ, तुम उलटि मँगाई,
मेरौ जिय यौंही डरै, मति होहि सिलाई।
मैं निरबल अति बल नहीं, जो और गढ़ाऊँ,
मो कुटंब याही लग्यौ, ऐसी कहाँ पाऊँ।
मैं निरधन कछु धन नहीं, परवार घनेरौ;
सैंमर, ढाक, पलास काटि बाधौं तुम बेरौ।
बार-बार श्रीपति कहैं, केवट नहिं मानैं,
मन-परतीत न आवत, उड़ती ही जानैं।
नियरैं हीं जल थाह है, चलौ तुम्है बताऊँ;
"सूरदास" की बीनती, नीकै पहुँचाऊँ।

भैया! एक बात और सुन लो, वह यह कि आपके इस चारु चरित्र पर, ललिता-लीला के सहारे "तुलसीदासजी" ने बड़ी मीठी चुटकी भरी है। निहायत मीठा-मजाक किया है, जैसे कि—

बिन्ध्य के बासी, उदासी तपोव्रतधारी महा बिनु नारि दुखारे;
गौतम-तीय तरी "तुलसी" सो कथा, सुनि भे मुनि-बृंद सुखारे।

ह्वै हैं सिला सब चंद-मुखी, परसै पद-मंजुल-कंज तिहारे ;
कीन्हीं भली रघुनायकजू ! करुना करि कानन कौ पगु धारे।

अर्थात्, भगवन् ! आपने अत्यन्त अच्छा किया जो कृपा कर कोमल-कमल-पद, कानन की ओर किये—तशरीफ लाने का कष्ट गवारा किया। बेचारे विन्ध्यगिर-वासी, महान् तपोव्रतधारी महा मुनि वगैरह, स्त्रियों के बिना बड़े दुखित थे; अजी तड़प रहे थे अस्तु, अब तो उनके "पौ-बारह" है, क्योंकि गौतमतीय के तरने की कमनीय कथा से सब हर्षित हो रहे हैं अतएव श्रीमान के पद-पद्म के प्रताप से सारे विन्ध्यगिरि के पत्थर—

ह्वै है सिला सब चन्द-मुखी, परसैं पद मंजुल-कंज तिहारे।

—इस लिये बहुत अच्छा किया सरकार ! आपने बहुत अच्छा किया, जो कि इस ओर पधारे।

आज दमभर में अजल का, सामना होने को था ;
ख़ैर गुज़री आ गये तुम, क्या से क्या होने को था।

—ज़ौक

दादा ! और लो, शिला-स्वरूप मुनि-पत्नी के तरने का तिलस्मात सुन, गजराज को भी गज-गामिनी होने का शौक चर्राया है—उसे भी सुन्दर सलोनी स्त्री बनने की धुन सवार हुई है। देखिये न, इसलिये ही तो वह उस "पावन-धूलि" की प्राप्ति-प्रतीक्षा में बार-बार जगह-ब-जगह की खाक़ को अपने सिर पर सुशोभित करता फिरता है, बकौल—"रहीम" के, जैसे कि—

धूरि धरत नित सीस पै, कहु "रहीम" केहि काज ;
जेहि रज मुनि-पत्नी तरी, सो ढूँढ़त गजराज। *

* इस पर स्वर्गीय कवि "नवनीतजी" की सरस सूझ भी देखने लायक है।

कहिये श्रीमान्! तुलसी दादा का है न हृदय—हर्षा देने-वाला मीठा-मजाक? अजी सरकार! सुनते ही कलेजे की कली खिल गई होगी। दिल, बाग-बाग हो गया होगा—हृदय हाथों उछलने लगा होगा। अजी सरकार! इन (तुलसीदास) ने एक दफे आप के साथ अपनी जोड़ी भी तो मिलाई थी—बराबर का रिश्ता भी तो लगाया था, जैसे कि—

"हौं पतित, तुम पतित-पावन दोऊ बानक बने"

❀ ❀ ❀

मैं हरि, पतित-पावन सुने;
हौं पतित, तुम पतित-पावन, दोऊ बानक बने।
व्याधि, गनिका, गज, अजामिल, साखि निगमनि भने;
और अधम अनेक तारे, जात का पै गने।
जानि नाम अजान लीन्हें, नरक, जमपुर मने;
"दास तुलसी" सरन आयौ राखियै अपने।

श्री हरे! मैंने आपको पापियों को पवित्र करने वाला, पावन बनाने वाला सुना है, अतः मैं तो पापी हूँ और आप पतित-पावन

"सो ढूँढत गजराज", तरी मुनि-पतनी जासौं;
डारत सूँड समैटि सीस, तरि जैहौं तासौं।
राखि हिऐं बिसवास, "नौत-कवि" बिसे-बीस पै,
मिलि जैहैं भगवान, धूरि यौं धरत सीस पै।

कुछ ऐसे ही खूबी से भरे "खयालात" उर्दू के प्रसिद्ध कवि "मीर" ने भी बाँधा है। जैसे कि—

खाके पा उसकी है शायद किसू का सुरमए-चश्म;
खाक में अहले-नजर, इस से रले जाते हैं।

हैं, अर्थात पापियों का उद्धार करने वाले हैं, वाह खूब बानक बना—कैसा सुन्दर मेल मिला, अनुपम जोड़ी जुड़ी क्योंकि—

"खूब मज़ा आयेगा, जब मिल बैठेंगे दिवाने दो।"

—कोई शायर

श्रीमान् ! मुझे तो पतित-पावन की, पतितों को पावन बनानेवाले सुयोग्य वैद्य की—चतुर हकीम की, निहायत जरूरत थी और इसी तरह आपको पतितो की। चलो छुट्टी हुई, मेरी भी कमनीय कामना पूजी, और साथ साथ आपकी भी।

वह जो खंजर वक्फ़ नजर आया;
"मीर" सौ जान से, निसार हुआ।

देखो दादा ! "सूर" भी तुलसीदासजी की हाँ-में-हाँ मिलाते हुए कहते है कि—

नाथ ! सकौ तौ मोहि उधारौ;
पतितन मैं विख्यात पतित हौं, पावन नाम तिहारौ।
बड़े पतित पासंगहु नाही, अजामिल कौन बिचारौ;
भाजे नरक नाम सुन मेरौ, जम नें दयौ हठि तारौ।
छुद्र पतित तुम तारि रमा पति, जियजु करौ जनि गारौ;
"सूर पतित" कौ ठौर कहूँ नहि, है हरि-नाम सहारौ।

भगवान् ! किसी एक भक्त ने आपकी और अपनी तुलसीदासजी के समान बड़ी सुन्दर जोड़ी मिलाई है—स्वामी-सेवक के भाव साम्य पर बड़ी सुन्दर सूक्ति सृजी है। यथा—

मै तौ हौं पतित, तुम पावन-पतित नाथ !
पावन-पतित हौ तौ पातक हरौईगे;
मैं तौ महा दीन, तुम दीन-बन्धु दीनानाथ !
दीन बन्धु हौ तौ दया जीव पै धरौईगे।

मै तौ हौं गरीब, तुम तारक गरीबन के,
तारक-गरीब हौ तौ बिरद बरौईगे,
मेरी करनी पै कछु मुकर न कीजे कान्ह !
करुना-निधान हौ तौ करुना बरौईगे।

अथवा—

अधम-उधारन नमवा, सुनि कर तोर,
अधम काम की, बटियाँ गहि मन मोर।

श्रीमान् ! गोस्वामीजी कुछ ऐसे-वैसे आदमी न थे अपितु एक उद्भट साहसी, और निहायत चलते-पुर्जे थे। अस्तु: जब उनने जाना कि—आपके अनुपम दरबार मे, कमनीय कचहरी मे किसी तरह भी पहुँच नही हो सकती, तो बैठे ठाले एक बैरंग चिट्ठी ही लिख डाली। जिसका कि नाम—

"विनय-पत्रिका"

—है। पत्रिका (चिट्ठी) क्या है पूरे जीवन का लम्बा चौड़ा पचड़ा है—कर्म-विपाक का कच्चा चिट्ठा है।

लिखते रुक्का, लिख गये दफ़्तर,
शौक़ ने बात क्या बढाई है।

—मीर

और उसका मन-मौजी—"मजमून" तो कुछ ऐसा प्रभावोत्पादक है, कुछ ऐसी तासीर से तराबोर है कि—पत्थर का कलेजा भी "मोम" हो जाय अथवा पिघल कर पानी-पानी हो जाय। अस्तु: बेचारे गोस्वामीजी जब "पत्रिका" का अधिकांश हिस्सा लिख चुके, परचे पर परचे प्रचुर परिमाण में प्रस्तुत कर चुके, तब उनके मन-मुकुल मे यकायक खयाल आया, एका एकी सूझा कि कहीं मेरा उक्त रोना, सारी कर्म-कहानी कहना, भुस का कूटना

ही न समझा जाय, इसलिये एक पद में आप (गोस्वामीजी) ने ऐसा फबन-फबीली फटकार बतलाई, कुछ ऐसी पुर जोश भरी आव-भगत की, कि जिसे सुनकर, व देखकर, सारे होशो-हवास दुरुस्त हो जाँय। सम्पूर्ण मिजाज ठीक-ठिकाने आ जाय, जैसे कि—

हौ अबलौ करतूत तिहारिय, चितवत हुतौ न रावरे! चेते;
अब "तुलसी" पूतरौ बाँधि है, सहि न जात मो पै परिहास ऐते।

❀ ❀ ❀

तब तुम मोहू से सठनि कौं हठि गति देते;
कैसौ हुँ नाम लेहि कोउ पामर, सुनि सादर आगैं ह्वै......लेते।
पाप खानि जिय जानि अजामिल, जमगन तमकि तये ताकौ भेते;
लियौ छुड़ाइ चले कर-मींजत, पीसत दाँत गये रिस रेते।
गौतम-तिय, गज, गीध, बिटप, कपि, है नाथहिं नीके मालुम जेते;
तिन्ह-तिन्ह काजनि साधु सभा तजि, कृपा-सिंधु तब-तब उठि गेते।
अजहुँ अधिक आदर यहि द्वारैं, पतित-पुनीत होत नहिं केते;
मेरे पासंगहु न पूँजिहैं, ह्वै गये है, होने, खल......जेते।
हौ अबलौं करतूत तिहारिय, चितवत हुतो न रावरे! चेते;
अब "तुलसी" पूतरौ बाँधि है, सहि न जात मो पै परिहास ऐते।

अर्थात्, श्रीमान्! पहिले तो आप मुझ जैसे महा पतितो को, महान् दुष्टो को, हठ करके—जबर्दस्ती के ज्वलन्त उदाहरण उपस्थित करते हुए, प्रबल इच्छापूर्वक सद्गति देते थे! यानी मोक्ष का सर्टीफिकेट अता फर्माते थे! कोई कैसा ही महान्-से-महान् पातकी क्यों न हो, कैसा ही घोर पापी क्यो न हो, आपका नाम लेते ही, आप आदर के साथ आगे बढ़कर अगवानी करते हुए अपना कर लेते थे! पर न मालूम आजकल आपको क्या हो गया है, यकायक क्या मिजाज ने पलटा खाया है, क्या खब्तगी

सवार हुई है कि जो मुझ जैसे पतितों की तरफ ध्यान ही नहीं देते—ख्याल ही नहीं लाते, भला ऐसा भी तो क्या ? अथवा कहिये—कहिये ! कि कोई दुष्ट ही नहीं रहा ? पापी ही न रहा ? नहीं-नहीं, प्रभो ! मैं तो सब पतितों का तिलक—सबका शिरोमणि, और ईश हूँ, जैसे कि—

प्रभु मैं सब पतितन कौ टीकौ ;
औरु पतित सब दिना-चार के, हौं तौ जनमत ही कौ ।
बधिक, अजामिल, गनिका तारी, औरु पूतना ही कौ ;
मोहि छाँड़ि तुम औरु उधारे, मिटै सोक क्यौं जी कौ ।
कोउ न समरथ अब करिबे कौ, खैंचि कहति हौं लीकौ ;
मरियतु लाज "सूर" पतितन मैं, मोहू तैं को नीकौ ।

❀ ❀ ❀

हौं तौ पतित-सिरोमनि माधौ ;
अजामेल बातन हीं तारयौ, सुन्यौं जो मो तै आधौ ।
कै प्रभु ! हारि मान कैं बैठौ, कै अब ही निस्तारौ ;
"सूर-पतित" कौ औरु ठौर नहिं, है हरि नाम सहारौ ।

❀ ❀ ❀

हरि हौं सब पतितन-पतितेस ;
औरु न सर करिबे कौं दूजौ, महा-मोह मम-देस ।
आसा के सिंघासन बैठ्यौ, दंभ छत्र सिर तान्यौं,
अपजस अति "नकीब" कहि टेरयौ, सब सिर आइ समान्यौं ।
मंत्री काम, क्रोध निज दोऊ, अपनी-अपनी रीति,
दुबिधा-दुंद होत निसि-बासर, उपजावत अनरीति ।
मोदी लोभ खवासि मोह के, द्वारपाल हंकार ।
पाठ अहंममता है मेरौ, माया के अधिकार ।

सेवक-तिसना भ्रमत टहल हित, लहत न छिन बिसराम,
अनाचार-सेवक सौं मिलि कैं, करत चावबि न काम।
बाज-मनोरथ, गरब मत्त-गज, असत कुमति रथ सूत,
पाइक-मन बानैत अधीरज, सदाँ दुष्ट-मति-दूत।
गढ़ तजि भजे नरक-पति मोसौं, लीने मूंदिकिवार,
सैंना संग भाँति बहुतक की, कीने पाप-अपार।
निंदा जग उपहास करत मग, बंदी-जन जस-गावैं,
हठ, अन्याइ, अधर्म "सूर" नित नौवत द्वार बजावैं।

—अथवा कुछ और कारण है, कहो-कहो दादा! कुछ बतलाइये न, देखिये सरकार! यमदूतों ने अजामील को अपने मन मे महा पापों की खान, अनेक पातकों का पिटारा पहिचान, उसे डाटा-डपटा, भय दिखलाया, कितने ही कष्ट दिये, पर आपने—प्रेमवश नामोच्चारण के नाते, उसे हाथों-हाथ उबार लिया। बेचारे-यमदूत हाथ मल-मल पछताते हुए और दांत पीसते क्रोध में उन्मत्त हो चले गये, हाय! कुछ भी बस न चलाते चला। किस-किस की कहूँ! गौतम की स्त्री अहल्या, हाथी, गीध, वृत्त यानी यमलार्जुन, बंदर और भी जो-जो हों; जिनको आप अच्छी तरह जानते हैं, उन सबका जब-जब कोई काम पड़ा, कोई भी कार्य आ कूदा, तब ही तब आप सुन्दर-से-सुन्दर संत-समाज को त्याग कर झट, झपटकर चले गये, जरा भी मोके-बे-मोके का खयाल न किया, उनका कष्ट क्षणमात्र भी तो सहन न हो सका! तुर्त-फुर्त भागते ही तो नजर आते थे! ओह! उस समय कितनी आतुरता होती थी! भगवन्! उस समय आपका भागना गजब का होता है "गजब' का! जिसका तनकसा अजूबा अन्दाजा "रत्नाकर" ने आँका है। यथा—

रमत रमा के संग आनँद-उमंग भरे,
अंग परे थहरि मतंग अवराधे पै;
कहै "रतनाकर" वदन-दुति औरै भई,
बूँदैं छई छलकि दृगनि नेह-नाधे पै।
धाए उठि बार न उबारन मैं लाई रंच,
चंचला हूँ चकित रही है वेग साधे पै;
आवत वितुंड की पुकार मग-आधे मिली—
लौटत मिल्यौ त्यौं पच्छिराज मग-आधे पै।

अथवा—

गुनि गज-भीर, गह्यौ चीर-कमला कौ तजि,
है हरि अधीर पीर उमँग अथाह मैं;
कहै "रतनाकर" चपल चक्र वाहि चले,
वक्र-ग्राह-निग्रह के अमित-उछाह मैं।
पच्छीपति, पौन, चंचला सौं, चख-चंचल सौं—
चित्त हूँ सौं चौगुने चपल चलि राह मैं;
बारन उबारि दसा दारुन बिलोकि तासु—
ढुलकन लागे आप करुना प्रवाह मैं।

एक और—

परत पुकार काँन, काँनि करुना की आँनि,
सहित उदेग बेगि बिकल बिकाने से;
कहै "रतनाकर" रमा हूँ कौ बिहाइ धाइ—
औचक ही आइ भरे-भाइ सकुचाने से।
आतुर उबारि, पुचकारि, धरनी पै धारि,
अमित अपार-स्रम भभरि भुलाने से,
फेरत भुसुंड पै कँपत कर पुंडरीक!
बिकल बितुंड-सुंड हेरत हिराने से।

गोविन्द ! गीध के प्रति प्रदर्शित कृतज्ञता की कहानी, कान लगा कर न सुनियेगा ! वह गुनन-गरूली-गाथा, क्या यों ही गवाँ दी जाय ? अस्तु तबीयत नहीं मानती—ज़बाँ उस मिठास के मजे को मकफूल करने से बाज नहीं आती। जैसे कि—

राघौ ! गीध गोद करि लीन्हौ,
नैंन-सरोज-सनेह-सलिल सुचि, मनहुँ अरघ-जल दीन्हौं।
सुनहु लखन ! खग-पतिहि, मिलैं बनु, मैं पितु-मरन न जान्यौ,
सहि न सक्यौ सो कठिन बिधाता, बडौ पछु आजुहि भान्यौ।
बहु बिध राम ! कह्यौ तन राखन, परम धीर नहि डोल्यौ,
रोकि प्रैंम, अवलोकि बदन बिधु, बचन-मनोहर बोल्यौ।
"तुलसी" प्रभु झूठे-जीवन-जग, समै न धोखौ लैहौ,
जाकौ नाम मरत मुनि दुरलभ, तुमहिं कहाँ पुनि पैहौ।*

सरकार ! जाने दीजिये इन पुराने-पचड़ों को ! इन फटे-पुराने चिथड़ों के पलटने से क्या फायदा ! गयी-गुजरी बातों का बार-बार जिक्र करने से क्या लाभ ? पर, भगवन् ! यह तो कहिये कि क्या इन पुरानी-धुरानी गुण गाथाओं के साथ-साथ नयी-नाज़बरदारी से भी नेत्र हटा लिये जाय ! इस कारुणिक-चित्र से भी मुँह मोड़ लिया जाय—तर्के मवालात का एकदम बिगुल बजा दिया

* तुलसीदास जी की कोमल कृति पर किसी कवि ने क्याही सुन्दर चार चाँद लगाये हैं—

दीन, मलीन, दुखी, अँग-हीन, विहंग परौ छित-छीन दुखारी,
राघव दीन-दयालु कृपालु कौं, देखि दुखी करुना भरे भारी।
गीध कौं गोद मैं राखि कृपा-निधि, नैंन-सरोजन भौ जलवारी,
वारहि वार सुधारत पख, 'जटायू' की धूरि जटान तैं झारी।

—पाडेयजी से प्राप्त

जाय ! कहिये—कहिये नाथ ! कहिये न, द्रौपदी की पुकार पर—उसकी आजिज भरी दर्द-शखुनवरी पर भी तो, कुछ ऐसी ही आतुरता से अलंकृत हृदय-हारी हड़बड़ी पड़ गयी थी। जैसे कि—

दीन द्रौपदी की परतंत्रता-पुकार ज्यौंहीं—
तन्त्र विनु आई मन-जंत्र-बिजुरीनि पै;
कहै "रतनाकर" त्यौं कान्ह की कृपा की कॉनि,
आनि लसी चातुरी-विहीन आतुरीनि पै।

अस्तु—

अंग पर्‌यो थहरि, लहरि दृग-रंग पर्‌यौ,
तंग पर्‌यौ बसन सुरंग-पसुरीनि पै;
पंचजन्य चूमन हुँमसि होठ-वक्र लाग्यौ—
चक्र लाग्यौ फिरनु उमंगि अँगुरीनि पै।

दीनबन्धो ! दीना-हीना द्रौपदी की पुकार में, उसकी आजिज भरी आरजू में, ऐसा क्या रहस्य था ? कौन-सा कारण था ? आपके कोमल-हृदय को कौन से अज्ञात, पर क्षीण-तन्तु से बाँध रखा था ? जिसने कि आपके अक्षुण्ण-आसन को हिला दिया। दयानिधे ! कहिये-कहिये, वह कौन-सी भाव-भूषित सरस-सरिता थी, जिसके अवगाहन निमित्त छिपे-छिपे द्वारिका से दौड़ कर इन्द्रप्रस्थ आ उपस्थित हुए। हाँ-हाँ क्या कहा कि अनन्यता ! केवल अनन्यता ! कौन-सी अनन्यता यही न कि—

सान्तनु की सान्ति, कुल कान्ति चित्र अंगद की
गंग-सुत-आनन की आभा बिसराइगी;
कहै "रतनाकर" करन द्रौन-बीरन की,
स्रौन-सुनी धरम-धुरीनता बिलाइगी।

द्रोपदी कहति अफनाइ रजपूती सबै—
उतरी हमारी सारी माँहिं कफनाइगी ;
द्रुपद-महीपति की, पच-पतिहू की हाइ—
पच पतिहू के पति हू की पति जाइगी।

अथवा—

पाँडु की पतोहू भरी सुजन-सभा मैं जब—
आई एकु-चीर सौं तौ धीर सब ख्वै चुकी ;
कहै "रतनाकर" जो रोइबौ हुतो सो तबै—
धाड़मारि, बिलखि, गुहारि सब ख्वै चुकी।
झटकत सोऊ पट-बिकट दुसासन है,
अब तौ तिहारी हू कृपा की बाट ज्वै चुकी ;
पाँच पाँच नाथ होत, नाथन के नाथ होत,
हाइ हौं अनाथ होत, नाथ! बस ह्वै चुकी।

इसके अनन्तर—

भीपम कौं प्रेरौं, करन हू कौ मुख हेरौं हाइ,
सकल सभा की ओर दीन-दृग फेरौं मैं ;
कहै "रतनाकर" त्यौं अंध हू के आगैं रोइ—
खोइ दीठि चाहति अनीठिहिं निवेरौं मैं।
हारी जदुनाथ! जदुनाथ! हू पुकारि नाथ!
हाथ दाबि कढ़त करेजहि दरेरौं मैं ;
देखि रजपूती की सकल करतूती अब—
एकु बार वहुरि "गुपाल" कहि टेरौं मैं।

अस्तु फिर क्या था—

भरि दृग नीर ज्यौं अधीर द्रोपदी ह्वै दीन,
कीन्हौ ध्यान कान्ह की महान प्रभुता कौ है ;
कहै "रतनाकर" त्यौं पट मैं समाने आइ—
अकल असीम भाइ दीन बन्धुता कौ है।

भौचक समाज सब औचक पुकारि उठ्यौ,
गारि उठ्यौ गहव गुमान गरुता कौ है;
चौदहैं अनन्त जग जानत हुतै पै इहि—
पन्द्रहौं-अनन्त-चीर द्रुपद-सुता कौ है।

रत्नाकरजी के उक्त पद समूह पर एक बहुत पुरानी "लावनी" याद आ रही है, जैसे—

बिन-काज आज महाराज! लाज गई मेरी,
दुख हरौ द्वारकानाथ! सरन मै तेरी।

दुस्सासन-वंस-कुठार, महा दुख दाई,
कर-पकरत मेरौ चीर, लाज नहिं आई।
अब भयौ धरम कौ नास, पाप रह्यौ छाई,
लखि अधम-सभा की ओर, नारि बिलखाई।
सकुनी, दुरजोधन, करन खरे—खल बेरी;
दुख हरौ द्वारिकानाथ! सरन मैं तेरी।

तुम दीनन की सुधि लेति देवकीनंदन,
महिमा अनंत, भगवंत, भक्त-भै भंजन।
तुम कियौ सिया-दुख दूर, संभु-धनु खंडन,
अति-आरत-हरन गुपाल! मुनिन-मन-रंजन।
करुना निधान, भगवान! करी क्यौं देरी,
दुख हरौ द्वारिकानाथ! सरन मैं तेरी।

बैठे सब राज समाज, नीति सब खोई,
नहि कहत धरम की बात, सभा मैं कोई।
पाँचौ पति बैठे मौन, कौन गति होई,
लै नँद-नंदन कौ नाम, द्रोपदी रोई।
करि-करि बिलाप, संताप सभा मैं टेरी,
दुख हरौ द्वारिकानाथ! सरन मैं तेरी।

तुम सुनि गजेन्द्र की टेर, विस्व अविनासी,
तब जाइ छुड़ाई बढ, कोटि पग फाँसी।
मै जपौं तिहारौ नाम, द्वारिकाबासी,
अब नाँहक राज-समाज करावत हाँसी।
अब कृपा करौ जदुनाथ ! जानि चित चेरी,
दुख हरौ द्वारिकानाथ ! सरन मैं तेरी।

तुम पति राखी प्रहलाद, दीन-दुख टारौ,
भए खंभ फारि नरसिंघ, असुर-संघारौ।
ब्रज खेलत केसी आदि, बकासुर मारौ,
मथुरा मुस्टिक, चाँडूर, कंस-मद-जारौ।
पुनि मात-पिता की आनि कटाई बेरी,
दुख हरौ द्वारिकानाथ ! सरन मैं तेरी।

लयौ भक्तन-हित अवतार कन्हाई ! तुमनैं,
जमलार्जुन की जड़-जोनि, छुटाई तुमनैं।
जल बरसत प्रभुता अगम, दिखाई तुमनै,
नख पै गिरि-धरि, ब्रज लयौ बचाई तुमनै।
प्रभु ! अब बिलंब क्यौं कियौ हमारी बेरी,
दुख हरौ द्वारिकानाथ ! सरन मैं तेरी।

सुनि, दीनबन्धु भगवान्, भक्त हितकारी,
भए आइ चीर मैं प्रगट, हरौ दुख भारी।
खैंचत हारौ मतिमंद, वीर बलकारी,
रखि लई दीन की लाज, आज बनवारी।
धाए द्रोपदि के हेत करी ना देरी;
दुख हरौ द्वारिकानाथ ! सरन मैं तेरी।

कहा करी द्वारिकानाथ ! मनोहर माया,
अम्बर कौ लग्यौ पहार, पार नहि पाया।

तिहुँ लोक चतुरदस चीर देखि घबराया,
वंदित "गनेसपरसाद" कृष्ण-गुन-गाया।
दीनन के दीनानाथ ! विपद निरवेरी;
दुख हरौ द्वारिकानाथ ! सरन मैं तेरी।

क्यों नाथ ! द्रोपदी के झपटते हुए "सुपट" में प्रस्फुटित होते हुए प्रचुर परिश्रम पड़ा होगा ! इस तंग-दायरे में दुरते हुए—छिपते हुए, ओह छलिया ! निहायत कष्ट हुआ होगा। और जरूर हुआ होगा ? पर, पीत-पटधारी लला ! आपके इस अपरिमित परिश्रम की "पोल" "मोहन कवि" ने बड़ी सुन्दरता से खोली है। अस्तु सुनिये, और बतलाइये कि—

कबै आपु गए हे बिसाहन बजार बीचि,
कबै बोलि जुलहा बुनाए दर-पट सौं,
नंद जू की कॉमरी न काहू बसुदेव जू की,
तीन हाथ पटुका लपेटैं रहे कट सौं।
"मोहन" भनत यामैं रावरी बड़ाई कहा—
राखि लीन्ही आँन-बाँन ऐसे नटखट सौं,
गोपिन के लीन्हे तब चोरि-चोरि चीर अब—
जोरि-जोरि दैन लागे द्रोपदी के पट सौं।

—हाँ-हाँ बतलाइये साहब ! खरीदने के लिये बाजार कब तशरीफ ले गये थे ! अथवा किस जुलाहे से ऐसे सुन्दर समीचीन कपड़े बुनवाये ! क्योंकि श्रीमान् तो सिर्फ तीन हाथ की लँगोटी लगाये और कालाकम्बल—सो भी न जाने "नंद बाबा" का था ? या वसुदेवजी ने ही बाजार से लेकर भेज दिया था ? ओढ़े डोलते थे, था क्या पास ! अस्तु, भगवन् ! इन गुनन-गल्ली गोपबालाओं के गुण गाइये, जिनकी बदौलत शान रह गयी—इनके

चुराये चीर आज काम आ गये, और इस तरह नटखटपने से आन-बान बनी रह गयी। लेकिन श्रीमान्! यह तो बतलाइये कि इसमें आपकी बड़ाई क्या है, जिसका कि ये निठल्ले लोग ऐसा ललित वर्णन कर रहे हैं।

किया ग़ैरों को क़त्ल उसने मरे हम शर्म के मारे ;
हमे तो मौत भी आई नसीबे-दुश्मना होकर।

—दाग

—अस्तु; जो कुछ भी हो, इस दरवाजे पर आज भी पतितों का अपूर्व आदर सत्कार होता है। नित्य नये पापी, पवित्र बनाये जाते हैं। फिर क्या मैं ही कुछ कम हूँ? अजी हज़रत! मै तो बहुत बड़ा पापी हूँ। संसार में जितने पापी हुए हैं, और हैं, अथवा होंगे, वह क्या मेरे पासंग में भी आ सकते हैं? इसलिये मेरा उद्धार तो सबसे पहिले होना चाहिये था—मुझे तो सबसे पहिले पवित्र बनाना चाहिये था, तारना चाहिये था? सो कुछ न हुआ इससे यह न समझ जाइयेगा कि इसके लिये कुछ करने-धरने की अब जरूरत नही है, चिल्लाता है तो चिल्लाने दो! नही-नही हुजूर! मै तो अब तक आपके कमनीय करतब को, रमणीय रफ्तार को इकटक देख रहा था कि आप मेरे लिये क्या-क्या करते है? कौन-कौन सी तजबीज नुमाया कर अपनाते है? शरण में लेते है, पर आपने आज तक कुछ न किया, यहाँ तक कि आँखें उठाकर देखा भी नहीं; चेताने से भी न चेते! अस्तु ठहरिये, अब आपका और आपकी इस निठुराई का ठीक-ठीक इलाज करता हूँ, वह यह कि—

अब "तुलसी" पूतरौ बाँधि है, सहि न जात मो पै परिहास एते!

—अर्थात् अब आपका एक पुतला बना और बाँस में लटका, जगह-ब-जगह दिखलाता फिरूँगा—गाँव-गाँव कहता डोलूँगा; शहर-शहर शोर मचाऊँगा कि भाई देख लो ? यही अयोध्या के राजाधिराज सूम-सरदार श्री रामचन्द्र जी हैं। कहिये ऐसा करने से आपकी काफी धूल न उड़ेगी ? कलई न खुलेगी ? क्या इतने पर भी श्रीमान् को लाज न आयेगी ?

तुम्हारा रूठना हर बार का, अच्छा नहीं देखो,
बुरे हैं हम, जो दिल पर रखते हैं, वह कर गुजरते है।

—हाँ साहब ! लाज न आयेगी, शर्म को सफा कर जायँगे ? कर जाइये—कर जाइये ! क्योंकि—

एका लज्जां परित्यज्य त्रैलोक्य विजयी भवेत्

लेकिन—

गिरि तै गिरि परिबौ भलौ, भलौ पकरिबौ नाग,
अगिनि माँहि जरिबौ भलौ, बुरौ सील कौ त्याग।

—कोई कवि

—यानी गिरि से—पर्वत से, गिर पड़ना अच्छा, काले नाग को पकड़ना भी सुन्दर, और अग्नि में दग्ध हो जाना, जल जाना तो निहायत अच्छा—अतीव सुन्दर, लेकिन शीलताई का त्याग करना, लज्जा को पृथक् कर देना, एक दम बुरा।

गो बहुत ऐसे हैं जो मरते है अपनी नेक नामी पर,
बहुत ऐसे हैं जो बदनामियों से नाम करते हैं।

—कोई शायर

—अस्तु; इस संसार से संतप्त जीवों का अब भी उद्धार करो ! इसे अब भी पावन करो, अब भी अपनाओ ! कुछ बिगड़ नहीं जायगा ? क्योंकि—

कहा-कहा नहि सहत सरीर ,
स्याम-सरन बिनु करम सहाइ न, जनम-मरन की पीर ।
करुनावंत ! साधु-संगति बिनु, मनहि देइ को धीर ;
भक्ति-भाव बिनु को कहौ मैटै, सुख दे दुख की भीर ।
बिनु अपराध चहूँ दिसि बरसत, पिसुन-बचन अति तीर ;
कृष्ण कृपा-कवचि तैं उबरे, पावै तब ही सीर ।
चेतहु भैया ! बेगि बढ़ी कलिकाल नदी गंभीर ;
"व्यास" वचन बलि वृन्दाबन बसि, सेवहु कुंज-कुटीर ।

अथवा—

धरम दुर्‌यौ कलिराज दिखाई ;
कीनौ प्रगट प्रताप आपुनौं, सब बिपरीति चलाई ।
धन भौ मीत, धरम भौ बैरी, पतितन सौं हितवाई ;
जोगी, जती, तपी सन्यासी, ब्रत छाँड्यौ अकुलाई ।
बरनास्रम की कौन चलावै, संतन हूँ मैं आई ;
देखत संत भयानक लागत, भावत ससुर जमाई ।
संपत, सुक्रत, सनेह, मान, चित, ग्रह-ब्यौहार बड़ाई ,
कियौ कुमंत्री लोभ आपुनौं, महा मोह जु सहाई ।
काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह हू, दीन्हीं देस दुहाई ;
दान लैन कौं बड़े-पातकी, मचलन कौं बँभनाई ।
उपदेसन कौं गुरू गुसाँई, आचरनैं......अधमाई ;
"व्यास" दास के सुकृत साँकरे मैं गोपाल सहाई ।

—इसलिए अपनाओ—अपनाओ ! ऐ, क्या न अपनाओगे ? अच्छा न अपनाओ ! पर लोग-बाग आपको झूँठा कहेंगे ! मिथ्यावादी के सम्बोधन से सम्मानित करेंगे ! क्यो झूँठे बनते हो ? सो समझ मे नहीं आता—

अब कलिकाल मैं करौ जो न सहाइ मेरी,
तुम्है लोग हँसिकैं कहैंगे हरि झूँठे हौ।
—कोई कवि

हाँ-हाँ झूठे हो ! झूठे हो ! अवश्य झूठे हो ! इसमें सन्देह ही क्या है ? गुञ्जाइश की जरूरत ही क्या है ?

झूँठी-झूँठी - सौहै 'हरि' नित खात ;
फिर जब मिलत मरू कै, उतर बतात। *
—रहीम

भैया ! बुरा न मानो, उक्त खिताब तो एक बार नहीं अनेक बार गोपियों के "पार्लमेंट" से, "कमनीय कौंसिल" से कई बार प्राप्त हो चुका है ? कितनी ही दफे इस "सर्टीफिकेट" के सहारे आप अनुचित इल्जामात से अलहदा हो चुके हो ! यह तो झूठ बोलने के लिये "बपतिस्मा" है, अस्तु, चुपचाप कुछ नफीस आयतें और सुनिये, बनने बिगड़ने की जरूरत ही क्या है, जैसे—

आओ मेरे मौहन प्यारे झूंठे,
अपनी छाँड़ि प्रतिज्ञा कपटी, उलटे हमसौं रूठे।
मत परसौ तन, रँगे औरु के, रंग अधर तब जूठे,
ताहू पै तनकौ नहि लाजत निरलज्ज अहो अनूठे।

अथवा—

आओ मेरे झूंठेन के सिरताज,
छल के रूप, कपट की मूरत, मिथ्याबाद जहाज।

* रहीमजी ने इसी भावनामय भाव को एक जगह और भी दुहराया है—
जब तब मौहन झूँठी सौहैं खात ;
इन बातन ही प्यारे ! चतुर कहात।

क्यौं परतिज्ञा करी रह्यौ जो, ऐसौ उलटौ काज ,
पहिलै तौ अपनाइ न आवत, तजिबे मैं अब लाज । *

भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी की हाँ में हाँ मिलाते अब्दुलरहीम खानखाना साहब भी यही खिताब अता करते हुए फर्माते हैं—

निरमोही अति झूँठौ, साँवर गात ,
चुभ्यौ रहत चित कौधौं, जानि न जात ।

श्रीमान्! सत्यता का "सर्टिफिकेट" और लो। देखो वह आपके प्रेम की पिपासी गोपी आपसे क्या कह रही है—

भली कीनी लाल-गिरधर! और आए बोल साँचे ,
जुवती-बल्लभ बिरध कहियतु, यातै तुम भले हो बाँचे ।
इहाँ आए कौनै पठाए, मानौ मंत्र मत्री अति काँचे ,
तहँइ सिधारौ लालन ? जा तिय सँग रैन-राँचे ।
सूके-अधर, साँसु थिर नाही नव-तिय-सँग बँद-बाँचे ,
सुनि "कृष्णदास" नागरी कहति, ज्यौंही नचाए त्यौंही नाँचे ।

वाह भगवन्! "बलिहारी लला इन बोलन की"। आह! कितनी सत्यता से संयुक्त अपने बचनो को निबाहते हो। किस सुन्दरता से उनका प्रतिपालन करते हो! वाह! क्या कहना है।

जो मिलना न चाहो, बहाने बहुत हैं ,
जगह जा-बजा है, ठिकाने बहुत हैं ।

* अपने प्यारे को एक जगह नजीर ने भी "झूंठों का बादशाह" बनाया है—

कहा था कि हम रात आयेंगे आह ,
रहे साथ गैरों के तासुब्हगाह ।
पटक सर को हम रह गये देख राह ,
"बड़े तुम भी हो झूंठों के बादशाह ।"
मियाँ वाहवा, वाहवा, वाह-वाह ।

लेकिन गिरधर ! यह तो कहिये कि किस कच्चे मंत्री ने किस बेअकल के बहादुर ने, सुबह ही सुबह यहाँ (मेरे यहाँ) पधारने की पवित्र परवानगी का मनोहर मंत्र (आपके) कानों में फूंक दिया; किसने प्रियतमा के संसर्ग की सुविधा मे असुविधा उपस्थित कर दी ! बतलाइये साहब ! बतलाइये ! न बतलाओगे, अच्छा न बतलाओ ! तो फिर भी सुनो—

साँझु के साँचे बोल तिहारे ;
रजनी अनत जागि नँद-नंदन ! आए निपट सबारे।
आतुर भएँ नील-पट ओढ्यौ, पियरे बसन-बिसारे ;
"कुंभनदास" प्रभु गिरधरन भले जु, सत्य वचन प्रतिपारे।

उफ ! नाथ ! झूठ बोलने में कितने पटु हैं ! कितने उस्ताद हैं ! कितना कमाल करते हैं ! कि कुछ कहा नहीं जाता। यार लोगों ने तब ही तो आपको—

"चौर, जार शिखामणि-"

—कि उपाधि से पुरस्कृत कर रखा है। वाह ! उक्त ख़िताब ने कैसे सुन्दर चार-चाँद लगा दिये, जो कि देखते ही बनते हैं कहते नहीं।

कभी मेहदी का है हीला, कभी सर में दरद,
रोज लाता है नया रंग बहाना तेरा।

—नासिख

भैया ! आप अपनी इस असत्यता अलंकृत "अलकाव" के दो चार उदाहरण और लीजिये। यथा—

लाल के भाल मे पावक सी अवलोकति जावक-जोति जगाएँ,
दौरि कै गोरी गहे अँगुवानु कौ 'जसवंत' सखी सौ कहै चितलाएँ।

दीजै हमै जू बताइ हमरी सौं, बूझति तोहि हितू हित पाएँ,
काल तौ द्वैज कौ टीकौ कह्यौ, अब आजु कहौ ये कहा है लगाएँ।

—सुन्दरी-तिलक

अंजन-बिंदु बन्यौ अधरानु पै, मै छबि आजु अनूपम पेखी ;
तो पुतरीन की छाप परी ढरि, और की और अली लखि लेखी।
जो यह छाँह तौ नाह! कहा यह, है नख-रेख हिऐं अबरेखी ;
लाइ लई हँसिकै हिय मै, कहि तेरी सौं तेरी है, तैं अब देखी। *

—कोई कवि

भगवन्! जान लिया, जान लिया, आपका सारा मरम जान लिया! मुख की मधुर-मधुर बातें तो तुझसे, लेकिन जिय की—हृदय की, हक़ीकी बातें औरों से—

जान्यौ प्रीति कौ मरम,
मुख की मोसौं, जिय की औरनु सौं, पायौ तिहारौ भरम।
ऐसी कौन बाल जिन रस बस किए, जनियतु हिय के नरम ;
"हरिनाराइन स्यामदास" के प्रभु, भली कीनी भोर आए चतुर परस।

* उक्त सवैया से श्रीसूर कृत "पद" का भाव बड़ा सुन्दर है, अतीव हृदय-वेधक है। यथा—

नख कहाँ लागे? वन-वनरा लगाए नख,
चख क्यो राते? प्रात देख्यौ तातै भान कों,
चदन लगायौ कहाँ? विघन-हरन पूंजा करी,
वदन लग्यौ है कहाँ? परस भयौ थान कों।
रैंन मैं रहे कहाँ? नट-निरतत जहाँ,
अरबरे—बोलौ क्यौं? डर भयौ आन कौं,
गुजरी सो गुजरी अब आगै आइ ठाडे "सूर"
थेगरी कहाँ लौ देत फाटे आसमान कौं।

अथवा—

ना जानौ कौंन भाँति मिलौगे, तिहारी भँवर कीसी रीति ;
जित सुगंध पावत, तित ही धावत हौ, तुम गरज परे के मीति।
"आनँदघन" व्रज-मोहन प्यारे ! ठौर-ठौर के रस चाखत हौ, कैसै करै परतीति ;

सच बात तो यह है कि श्रीमान ! आप अपनी ही गरज के गाहक हो ! निहायत मतलबी हो ! अपनी आन-बान के अलावा और कुछ जानते ही नही ! स्व-स्वार्थ के सिवा और कुछ सूझता ही नहीं ! दूसरे के दर्दो-गम से कोई सरोकार ही नहीं ! तभी तो—कपटी, कुटिल, निरमोही, झूठे आदि उपाधियों से अलंकृत होना पड़ता है, जैसे कि—

जिय की न जानत हौ पिय ! अपनी गरज के गाहक,
मृदु मुसिकाइ, ललचाइ आइ ढिग, हरत परायौ हो मन नाहक।
कपटी, कुटिल नेह नहिं जानत, छल सौ फिरत घर-घर-रस चाहक,
ए निरदई दई स्याम-घन ! "परमानंद" करेजे के साहक।

अस्तु भगवन् !

गिला मैं जिस से करूं, तेरी बेवफाई का,
जहाँ मे नाम न ले फिर कोई आशनाई का।*

अथवा—

तिहारे पूंजिऐ पिय ! पाँइ ;
कैसी-कैसी उपजतु तुम कौं, कहत बनाइ-बनाइ।

* मीर की इस सदा पर "सौदा" भी फिदा थे, अस्तु इस भाव को आपने भी अपनाया—

गिला लिखूँ मैं अगर तेरी बेवफाई का,
लहू मैं गर्क सफीना हो आशनाई का।

आतुर भए नील-पट ओढ्यौ, बसन पीत पलटाइ ;
रुचिर कपोल पीक तैं पागे, ज्यौं जै-पत्र लखाइ ।
गिरधरलाल ! जहाँ निसि जागे, अनख न तन की जाइ ;
'कुंभनदास' प्रभु जानि लई बतियाँ, अब तुमै कौन पत्याइ ।

ठीक है—ठीक है, क्योंकि—

झूंठी झूंठी बातन हो लालन ! कैसैं मन मानै ;
उर सौं बनाइ-बनाइ वासौं कहिऐ, जो हिय की नहिं जानैं ।
रति के चिन्ह प्रगट देखियतु—सब कैसैं जॉइ दुरानै ।
"कुंभनदास" प्रभु गोवरधन-धारि, तुम हौ भले सयानै ।

निकुंज-नायक ! जैसा कि पूर्व में प्रदर्शित किया जा चुका है कि—"आपके ये अपूर्व जन भी, कुछ कम चंट और चालाक नहीं हैं। आप डाल-डाल, तो ये पात-पात हमेशा चलते है"। अस्तु, सर्वस्वहारी ! जब आपको इस "मदाखलत-बेजा" के मुकदमे में सापराध प्रमाणित करने का अन्य उपाय न देखा तब एक दूसरे ही चुलबुले उपाय को, आविष्कार को, ईजाद कर डाला, जो कि बड़ा ही मनमोहक है—हृदयहारी है, जैसे—

रावरे पाँइन ओट लसै, पग गूजरि बार महावर ढारे ;
सारी असावरी की झलकै, छलकै छबि घाँवरे घूम घुमारे ।
आओजू आओ ! दुराओ न मोहू सौं, "देवजू" चंद दुरै न अंध्यारे ;
देखौ हो ! कौंन सी छैल छिपाई, तिरीछैं हँसै जो पीछैं तिहारे ।

छल-बलिया ! आप द्वारा, नित्य नई प्रणालिका से प्रयुक्त उच्छृङ्खल अपराध को हरदम झूठा बनने का, कैसा कुतूहल-पूर्ण जवाब है, कैसा शोखी-भरा सापराधी प्रमाणित करने का—अन्य स्त्री संभोगशाली उद्घोषित करने का कैसा युक्ति-युक्त दिल-लुभाने वाला प्रहसन है ।

हर एक क़दम तेरे, कूँचे मे नया आलम है ;
कहाँ तक मैं अब चलूँगा, चला नही जाता ।

—अजीज

मन-मोहन ! आपके मन—चढ़ी ये महिलाएँ, कभी-कभी तो ऐसा मनोमुग्धकारी मीठा मज़ाक मौजू करती है—कुछ अजब चुलबुली शरारत-भरी आवाजेकशी कसती हैं, कि जिसे सुनकर दिल तड़प जाता है, उसके मनमोहक मौज के मज़े लूटते लूटते मन सौ जान से फ़िदा हो जाता है । अवश्य भूल जाता है। देखिये न, जैसे कि—

भोरही न्यौत गई ही तुम्हैं, वह गोकुल-गाँव की ग्वालिन गोरी ,
आधिक राति लौ "बैनी-प्रवीन" कहा ढिग राखि करी बरजोरी ।
आवै हँसी हमै देखत लाल ! सुभाल मैं दीन्हौ महावर घोरी ;
एते बड़े ब्रज-मडल मैं, न मिली कहूँ माँगैंहुँ रंचक रोरी ।

वाह·····कैसी कमनीय और कैसी मधुर दिल्लगी है । स्नेह भरी कितनी सुन्दर फटकार है वाह, हाँ तो लालन ! बतलाओ ! अरे बतलाओ न ! "वह गोकुल-गाँव की ग्वालिन-गोरी" निमन्त्रण तो सबेरे ही दे गयी थी, पर "आधिक राति लौ" ढिग राख कर—पास रख कर, उसने यह क्या पुर-मज़ाक मशखरी कर डाली, यह क्या शरूर से सराबोर सरारत समुपस्थित कर दी कि—"न मिली कहुँ माँगैंहु रंचक रोरी" के विपुल प्रयास से विथकित होकर "सुभाल मे दीन्हो महावर घोरी" अर्थात् "एते बड़े ब्रज-मंडल मे" "रंचक-रोली" के न मिलने पर भाल मे महावर घोल कर लगा दिया ? रोली के रुचिर आसन को महावर से मुकुलित कर दिया ! पाणिनी जी की—

"स्थानान्तरऽनल्विधौ"

—सरस-सूक्ति का पुनीत प्रताप परखा दिया ? जिसे देखकर लालन ! मुझे बेहद हँसी आ रही है,—मेरी हँसी को भी हँसी आ रही है।

रुखे-रंगी के जलवे कब, निकल सकते है सीने से,
यह वह मौजें नही है, जो जुदा हो जाँय साहिले से।

—जिगर

श्रीपति ! ये आपके सरस स्नेह की चिकनाई के दिव्य दाग हैं, प्रेम-धुलि-धूसरित धब्बे हैं, न कि व्यंग वाण-वर्षा ! अतः बुरा न मानना। प्यारे ! ये छूटने के नही। बकौल—"नवनीतजी के हमने लाखों कोशिश की, अनेक यत्नो की खाक छानी, पर हाय न छूटे ! न छूटे ? जैसे—

सुरस भिजोइ, कुल-काँनि रेह-खार दै कैं,
आतप लगन-जोग करि कैं सफाई कौ;
"नवनीत" प्यारे ! अपवाद-देगचा मैं भरि,
बिरहागि-भट्टी पै चढाइ सरसाई कौ।
आसा-सिल छाँटि, सुख साबुन किनारैं धोइ,
करमन की कुन्दी, काम कलप बुराई कौ;
ढूंढत उपाइ हाइ मन-रूपरा मैं लग्यौ,—
छूटत न दाग यह सनेह-चिकनाई कौ।

एक और—

कहुँ उमड़े-घुमड़े गाजत हौ पिय !
कहुँ बरसत, कहुँ उघरि जात;
कहुँ चमकि-चमकि चपला ज्यौं चमकति,
एकु ठौर त्यौं नहि ठहरात।
स्याम-घन-केसव लच्छन तुम पै स्याम हौ नीके—
जानति मेह-नेह आडंबर प्रथा प्रात;

"मुरारिदास" प्रभु तिहारे बाम चरन पूजिऐ,
को पतियाइ कहु किन की बात।

—राग-प्रदीप

चतुर चूड़ामणि ! महाभारत में बेचारे भोले-भाले अर्जुन के आगे, ज्ञान की गठड़ी खोलते हुए बड़े-बड़े बाहु उठाकर नाहक बेतुकी-डींग हाँकी थी कि—

यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ;
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृज्याम्यहम् ।

—गीता अ. ४।७

अर्थात् हे भारत ! जब-जब धर्म की ग्लानि होती है, अवज्ञा होती है, अथवा अधर्म की अधिकता बढ़ती है, तब-तब मैं स्वयं जन्म लिया करता हूँ, अवतार धारण किया करता हूँ।

भैया ! आपने अपनी उक्त प्रतिज्ञा को एक-बार और दुहराया था, पुनः कुछ ऐसी ही प्रतिज्ञा में आवद्ध होने की पुकार मचायी थी। जैसे कि—

ब्रज तजि अनत न जाइ हौ, यही है मेरै टेकु,
भूतल-भार उतारि हौ, धरिहौ रूप अनेकु।*

—कोई कवि

* श्रीसूर भी कुछ ऐसा ही फर्माते हैं। यथा—

ब्रज-बासिन सौं कह्यौ सबन तें ब्रज-हित मेरैं,
तुम सौं मैं नहिं दूर, रहत हौं, सबहिन के नेरैं।
भजइ मोहि जो कोइ, भजौं मैं निसि दिन तिनकौं भाई,
मुकुर माँहि ज्यौं रूप आपुनौं, आपुन सम दरसाई।
यह कहि कैं सम देति सकल जन, नैंन रहे जल छाई,
"सूर-स्याम" कौ प्रैम कछू अब, मोपै कह्यौ न जाई।

—कैसा व्रज ? जिसे कि रसिक शिरोमणि श्री सत्यनारायणजी रस से पूर्ण कमण्डल की उपमा से अलंकृत कर, अपनी साहित्य-रसज्ञता का पूर्ण परिचय दे गये हैं। जैसे कि—

भुवन बिदित यह जदपि चारु भारत-भुवि पावन ;
पै रस-पूर्न कमण्डल, व्रजमंडल, मन-भावन ।

—और आप, जिसकी हृदय-हर्षा देने वाली पावन याद कर-कर के उद्धव के सन्मुख घंटो रोया करते थे—व्रज-विछोह की अकथ-कथा कह-कह कर कलेजे की कसक मिटाया करते थे; जैसे—

ऊधौ ! मोहि व्रज बिसरत नाही ,
वृन्दाबन, गोकुल-सुधि आवत, सघन तृनन की छाँहीं ।
प्रात-समै माता जसुमति औ नंद देखि सुख पावत ,
माखन रोटी दह्यौ सजाएँ, अति हित संग खवावत ।
गोपी, ग्वाल-बाल सँग खेलत, सब दिन हँसत सिरात ,
"सूरदास" धनि-धनि व्रजबासी, बरनन किए न जात ।

सूर के उक्त भावनामय भाव पर स्वर्गीय रत्नाकरजी ने भी सरस-सूक्ति सृजी है । यथा—

गोकुल की गैल-गैल गैल-गैल ग्वालन की,
गोरस के काज लाज-वस के बहाइबौ ;
कहै "रतनाकर" रिझाइबौ नवेलिनि कौ—
गाइबौ, गवाइबौ औ नाँचबौ, नँचाइबौ ।
कीबौ स्समहार मनुहार कै बिबिध-बिधि,
मौहिनी, मृदुल, मंजु बाँसुरी बजाइबौ ;
ऊधौ ! सुख-संपति समाज व्रज-मंडल के,
भूलैं हूँ न भूलै, भूलै हमकौ भुलाइबौ ।

—पर वाहरे सत्य-सिन्धु ! मथुरा जाते समय, माता-पिता के

साथ गोकुल-ललनाओं को त्यागते उक्त प्रतिज्ञा का कुछ खयाल खयाल में आया था ! अरे आप तो उन भोली-भाली गोपिकाओं से चार दिन में लौट आने का वायदा करके गये थे न, आह ! उस समय उनकी दयनीय दशा का कुछ कारुणिक चित्र क्या कहा जाय ? देखो ! देखो ! यथा—

रही जहँ-तहँहीं सब ठाढ़ी",
हरि के चलत देखियतु ऐसी, मनौ चित्र-लिखि काढ़ी।
सूखे बदन, स्रवत नैन तै, जल-धारा उर बाढ़ी,
कंधनि बाँह-धरैं चितवत द्रुम, मनहुँ बेलि दव दाढ़ी।
नीरस करि छाँड़ी सुफलक-सुत, ज्यौ दूधहि बिनु साढ़ी,
"सूरदास" अक्रूर-कृपा तै, सही बिपत तन गाढ़ी।

प्रियतम के प्रदेश जाते समय की दुखभरी गाथा पर, इन निठल्ले कवि कोविदों ने बड़े अनुमान अलंकृत किये हैं—आसमान के कुलावे मिलाये है, अस्तु दो—चार नमूने पेश किये जाते हैं। जैसे—

भोरे भएँ मथुरा कौं चलैंगे, यौं बात चली हरि नंद-लला की ;
बोलि सकी न सँकोचनु तै, सुनि परी परी मुख-जोति तिया की।
हाथ लगाइ लिलाट सौ बैठी, यहै उपमा कवि सुन्दरता की ;
देखै मनौं कर आयु के आखर, और रहे है कछू बचि बाकी।

❀ ❀ ❀

पीतम-गौन सुन्यौं गजगौनि कौ भोजन, भौन सबै बिसरौ है ;
अंग परी तलबेली महा "कविराज" तहाँ भरि आयौ गरौ है।
नैननि तै धरि धार धन्यौ जल, अंजन सौ उर आइ परौ है ;
चीरबे कौ तिय कौ हियरा, बिरहा-बढ़ई मनौ सूत धरौ है।

❀ ❀ ❀

पी चलिबे को चली चरचा, सुनि चंद-मुखी चितई दृग कोरनु ;
पीरी परी तुरतै मुख पै, बिलखी अति व्याकुल मैंन-सकोरनु ।
को बरजै अलि ! कासौं कहै, मन झूलत नेह ज्यौं लाज-झकोरनु ;
मौती से पोइ रही अँसुवानु, गिरे न फिरे बरुनीन के कोरनु ।

—और मैया की तो भैया ! उस समय की दशा कहते ही नहीं बनती, लिखते लेखनी थरथराती है; क्योकि उस समय करुणा का अथाह समुद्र उमड़ा आता था। मैया, हर एक के मुँह की तरफ देख देखकर बार-बार कहती कि—

"है कोऊ ब्रज मै हितु हमारौ, चलत गुपालै राखै"

❀

जसुदा बार बार यौं भाखै ;
है कोऊ ब्रज मै हितू हमारौ, चलत गुपालै राखै ।
कहा काज मेरे छगन-मगन कौ, नृप मधुपुरी बुलायौ ,
सुफलक सुत मेरे प्रान हनन कौ काल-रूप ह्वै आयौ ।
बरु ए गो-धन हरौ कंस सब, मोहि बंद लै मेलै ,
इतनौई सुख, कमलनैन मेरी-आँखिनु आगै खेलै ।
बासर बदन बिलोकत जीऔं, निसि निज अंकम लाऊँ ,
तेहि बिछुरत जो जिऔ करम-बसु, तौ हँसि काहि बुलाऊँ ।
कमलनैंन गुन कहि-कहि टेरत, अधर, बदन कुम्हलानी ,
"सूर" कहाँ लगि प्रगट जनाऊँ, दुखित नंद की रानी ।

—अस्तु; वाहरे निर्दई ! "प्रिय-बिछुरन को दुसह दुख" की दावाग्नि से झुलसी हुई ब्रज-ललनाओ के साथ, जिसे मैया-मैया कहते न अघाते थे, और जिसके भूरि भाग्य की प्रसंशा शुक आदि—

अहोभाग्यमहोभाग्यं नंदगोपव्रजौकसाम् ,
यन्मित्रं परमानंदं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ।

—श्रीमद्भागवते

—रूप ब्रह्म-वाक्य, विपुल विरुदावली से गा-गा कर कहते थे! नारदादि भक्तवृन्द जिसके सौभाग्य मद को विकलता की दृष्टि से देखते हुए कहते थे कि—

किं ब्रूमस्त्वं यशोदे कति-कति सुकृतक्षेत्रवृन्दानि पूर्वम्—
गत्वा कीदृग्विधानैः कति-कृति सुकृतान्यर्जितानिऽत्ययैव ;
नो शक्रो न स्वयम्भूर्न च मदनरिपुर्यस्य लेभे प्रसादं ,
तत्पूर्णब्रह्म भूमौ विलुठति विलपन्क्रोडमारोढु कामः ।

—कस्यचित्कवेः

यशोदे! तेरा सौभाग्य अतीव महान् है। क्या कहें, ओह! कुछ कहा नहीं जाता कि तूने पिछले जन्मों में न जाने, तीर्थों में जा-जा कर कौन-कौन से और कितने-कितने महान् पुण्य संचय नहीं किये, कि जिसकी बदौलत आज विश्वपति, विश्वस्रष्टा, विश्व-रूप, विश्वाधार भगवान जिसकी कृपा को इन्द्रादिक देवता भी प्राप्त नहीं कर सके, वही पूर्ण ब्रह्म आज तेरी गोद में चढ़ने को, उसमे खेलने को, जमीन पर पड़ा मचल-मचल कर लोट रहा है, अस्तु; धन्य है, धन्य है!

और भैया! जिनके प्रेम-प्रणय में आप भी आबद्ध होकर अपने को धन्य समझते हुए उनसे उऋण होने की करबद्ध विशद प्रार्थना प्रमुदित करते हुए कहते थे कि—

..............................हौ रिनी तिहारौ ,
अपने-मन तै दूरि करौ, किन दोष हमारौ ।
कोटि-कल्प लगि तुम प्रति, प्रति उपकार करौ जो ,
हे मनहरनी! तरुनी! उरनी नाहिं तबहुँ तो ।
सकल बिस्व अपबस करि, मो माया सोहत है ,
प्रेममयी तुम्हरी माया, सो मोहि मोहत है ।

तुमजु करी सो कोउ न करै, सुनि नवलकिसोरी,
लोक, वेद की सुदृढ़-संखला तृन सम तोरी।
—नंददास

श्रीमद्भागवतकार श्री शुक भी कुछ ऐसा ही नंददासजी की हाँ-में-हाँ मिलाते हुए फर्माते है कि—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां—
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुपापिवः,
या मा भजन्दुर्जरगेहश्रृङ्खलाः
संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना।

इसी भव्य भाव पर दो कवित्त और याद आ गये हैं। यथा—

कामरी, लकुट मोहि भूलत न एकौ पल,
घुँघची बिसारौ ना, जो लाल उर धारे हैं;
जा दिन तैं छाकै छूटि गईं ग्वालिन की,
ता दिन तैं भोजन न पावत सकारे है।
भनै "जदुबंस" जौ पै नेह नंद वंस जू कौ,
बंसी ना बिसारौं जानै बंस बिस्तारे हैं;
ऊधौ! ब्रज जइयो, मेरी लइयो चौगान-गेंद,
मैया सौ कहियो हम रिनिया तिहारे है।
कौन बिधि पावैं यह कर्म बलवान उदै,
छाछ छछिया कौ, ब्रज-भक्तन कौ भात हैं;
मुक्ति सौ पदारथ जो दै चुके बकी कौ अब-
दैंइ जननी कौ कहा यातै पछितात है।
बिधि जो बनाई याहि कौन बिधि मैटि सकैं,
ऐसैं कहि सोचत रहत दिन-रात है;
ऊधौ! ब्रज जइयो, मेरी कहियो समझाइ मैया!
जा पै रिन बाढै सो विदेस भगि जात है।

—अथवा जिनकी स्तुति, श्रीशुक ने इस प्रकार गायी है—बार-बार नमन करते हुए कहा है कि—

नेमं विरिञ्चि न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया ,
प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत्प्राप विमुक्तिदात् ।

अर्थात् ब्रह्मा, शिव और सदैव हृदय में रहनेवाली पल भर भी न बिछुड़ने वाली वाला लक्ष्मी भी, जिसके देवदुर्लभ प्रसाद को न पा सकी, वह सब कुछ न्यौछावर कर ग्वाल-बालाओं ने पा लिया, और सहज पा लिया। अस्तु उन लोक-अभिवंदनीय अबलाओं से—

"......हित एकुहि वार, गवार तू तोरत बार न लाई"

—मतिराम

—हित तोड़ते जरा भी "वार" न लगाई, क्षणभर की भी "देर" न की—इस नाज़ुक नेह को नसाते पलभर भी न डरे, जरा भी न हिचकिचाये ।

नहीं शिकवा मुझे कुछ वेवफाई का तेरा हरगिज ,
गिला तब हो, अगर तूने किसी से भी निबाही हो ।

—मीर दर्द

अथवा—

तब तौ तुम दूरहि तै मुसुकाइ, बचाइ कैं और को दीठि हँसे ,
दरसाइ मनोज की मूरत ऐसी, रचाइ कैं नैननि मैं सरसे ।
अब तौ उर माँहि बसाइ कै मारत, ए जू बिसासी कहाँ धौं बसे ,
कछु नेह-निवाहवौ न जानत हे, तौ सनेह की धार मैं काहे धँसे ।

—सुजान सागर

अस्तु क्यों साहब ! "आनंदघनजी" क्या पूँछ रहे हैं ? सुनकर जवाब दीजिये न, गाँठ खोल कर बतलाइये न—

"कछु नेह निबाहवो न जानत हे तौ सनेह की धार मैं काहे धँसे।"

—न बतलाओ सरकार ! यहाँ हम सब जानते हैं, आप का राज कुछ छिपा नहीं है ! सब पर प्रगट है कि—

खुटाई पोरहि पोर भरी ,
हमहि छाँड़ि मधुवन मैं बैठे, बरी कूर कूबरी।
स्वारथ लोभी मुख देखे की, हमसौं प्रीति करी ,
"हरीचंद" दूजेन के ह्वै कै हा-हा हम निडरी।

—हाँ तो भगवन् ! गोपियों से जो चार-दिन में लौट आने की प्रतिज्ञा कर गये थे, वह भी खूब निबाही ! पीछे से उक्त प्रतिज्ञारूपी मूलधन का व्याज चुकाने के लिये अथवा उगाहने के लिये सूधा सा "ऊधो" भेज दिया। जैसे कि—

बाढ्यौ ब्रज पै जो ऋनु मधुपुर बासिन कौ,
तासौं ना उपाइ काहू भाइ उमहन कौ ;
कहै "रतनाकर" विचारत हुती ही हम--
कोऊ सुभ जुक्ति तासौं मुक्ति है रहन कौ।
कीन्यौ उपकार दौरि, दोउन अपार ऊधौ !
सोई भूरि भार सौं उबरता लहन कौ ;
लै गयौ अक्रूर-क्रूर तब सुख-मूर कान्ह,
आज तुम आए प्रान-व्याज उगहन कौ।

अस्तु—

ऊधौ बेगि ब्रज कौं जाहु ;
सुरति सँदेस सुनाइ मैंटौ, वल्लभिन कौ दाहु।
काम-पावक तूल मै तन, बिरह स्वाँस समीर ;
भसम नाहिंन होनु पावत, लोचनन के नीर।
आजु लौं इहि भाँति ह्वै है· कछुक कुसल सरीर ;
इते पै बिनु समाधानैं, क्यौं धरैं तिय...धीर।

कहौं कहा बनाइ तुम सौं, सखा साधु प्रवीन ;
"सूर" सुमति बिचरिऐ क्यौ जिऐं जल-बिनु मीन।

अथवा—

ऊधौ ! ब्रज कौं गमन करौ ;
हमहिं बिना बिरहिनी गोपिका, तिनके दुखहिं हरौ।
जोग, ग्यान परबोधि सबन कौं, ज्यौं सुख पावै नारि ;
पूरन ब्रह्म अलख परचे करि, डारैं मोहि बिसारि।
सखा प्रवीन हमारे तुम हौ, तुमतै ओर न अंत ;
"सूर" स्याम कारन यह पठवत, ह्वै आवैंगे संत।

उक्त भाव पर हमारे स्वर्गीय कवि "नवनीतजी" कहते हैं कि—

ऊधौ ! तू सखा है सब जानत हिए की बात,
कहत कछू पै बिचार उर धरियो ;
"नवनीत" प्यारे ग्वाल-बाल ब्रज-बारेन कौं,
ग्यान दरसाइ कै सबै ही दुख हरियो।
बाबा नंदराइ कौं सुजान ! समुझाइ जाइ,
मेरे कहैं माइ जसुदा के पाँइ परियो ;
निराकार ब्रह्म की उपासना दृढ़ाइ बेगि—
गोपिन कौ जोग दै बियोग दूरि करियौ।

—गोपी-प्रेम-प्रियूष-प्रवाह

उद्धव को मथुरा से ब्रज भेजते समय आपकी, दयनीय दशा का वर्णन स्वर्गीय बाबू जगन्नाथदासजी (रत्नाकर) ने भी बड़ा विदग्धता पूर्ण किया है। जैसे कि—

देखि दूरि ही तै दौरि पौरि लगि भैटि ल्याइ,
आसन दै साँसनि समैटि सकुचानि तैं ;
कहै "रतनाकर" गुनन यौं गुबिंद लागे—
जौ लौं कछु भूले से, भ्रम से अकुलानि तैं।

कहा कहै ऊधौ सौ, कहैं हूँ तौ कहाँ लौं कहै,
कैसै कहै, कहै पुनि कौन सी उठानि तैं ;
तौ लौ अधिकाई तै ऊमँगि कंठ आइ भीचि,
नीर ह्वै बहन लागी बातैं अँखियाँनि तैं।
बिरह-बिथा की कथा, अकथ अथाह-महा,
कहत बनैं न जो प्रवीनि सुकवीनि सौ ;
कहै 'रतनाकर" बुझावन लगे ज्यौं कान्ह !
ऊधौ कौं कहन-हेत ब्रज-जुबतीनि सौ।
गहबरि आयौ गरौ भभरि अचानक त्यौं--
प्रेम पर्यौ चपल चुचाइ पुतरीनि सौं ;
नैकु कही बैंननि, अनेक कही नैननि सौ--
रही-सही सोऊ कीन्हि दीन्ही हिचकीनि सौ।

अस्तु, वहाँ अर्थात् ब्रज में बेचारे सीधे-सादे और आपकी वाक्‌चतुरता से चिते यानी भरमाये हुए उद्धव की ब्रज-भामिनियों से कैसी भिड़न्त हुई, उसकी तो बात ही निराली है, मजा ही निराला है—आलम ही अनोखा है।

आलम है अनोखा, बातो का, दुनियाँ है निराली नजरों की।
—कोई शायर

—अस्तु; उद्धव को प्रियतम की पत्रिका लिये आया सुनकर जो हृदयहारी हड़बड़ी गोपियो मे पड़ी, उसका सुन्दर सिंहावलोकन "रत्नाकरजी" ने अपनी सरस भाषा में बड़ा ही हृदयग्राही किया है। यथा—

भेजे मनभावन के ऊधव के आवन की,
सुधि ब्रज-गाँवनि मै पावन जबै लगी ;
कहै "रतनाकर" गुवालिनि की झौर-झौर--
दौर-दौर नंद-पौर आवन तबै लगीं।

उझकि-उझकि पद-कंजनि के पंजनि पै ,
पेखि-पेखि पाती, छाती छोहनि सबै लगीं ;
हमकौ लिख्यौ है कहा, हमकौ लिख्यौ है कहा ,
हमकौ लिख्यौ कहा कहन सबै लगीं ।

❀

देखि-देखि आतुरी बिकल ब्रज-बारिनि की ,
ऊधव की चातुरी सकल बहि जाति है ,
कहै "रतनाकर" कुसल कहि पूँछि रहे—
अपर-सँदेस की न बातें कहि जात है ।
मौन-रसना ह्वै जोग जदपि जनायौ सबै ,
तदपि निरास वासना न गहि जाति है ;
साहस कै कछुक उँमाहि पूँछिवे कौ ठाहि ,
चाहि उत गोपिका कराहि रहि जाति है ।

—हाँ तो, जब आपके उस भोले-भाले और भरमाये हुए प्रिय सखा ने, उन बचन विदग्धा बालाओं के सन्मुख दूसरे की पूँजी से परिस्कृत अपनी ज्ञान की गठड़ी खोली; जैसे कि—

वे तुम तै नहिं दूरि, ग्यान की आँखिन देखौ ;
अखिल बिस्व-भरि पूरि रूप सब उनहिं बिसेखौ ।
लोह, दारु, पाखान मै, जल, थल, मही, अकास ,
सचर, अचर बरतत सबै, जोति-ब्रह्म-परकास । ❀
—सुनौ ब्रज-नागरी !

❀ रत्नाकर जी भी ऐसाही कहते हैं—
पंच-तत्त्व मैं जो सच्चिदानंद की सत्ता सो तौ ,
हम, तुम उन मैं समान ही समोई है ।
कहै "रतनाकर" बिभूति पंच-भूत हू की ,
एकु ही सी सकल प्रभूतन मैं पोई है ।

इस पर आपकी प्रियायें उत्तर देती हैं कि—

कौन ब्रम्ह, को जोति, ग्यान कासौं कहै ऊधौ ! ;
हमरे सुन्दर स्याम, प्रैम कौ मारग सूधौ ।
नैन, बैन, स्रुति, नासिका, मौहन-रूप दिखाइ ;
सुधि, बुधि सब मुरली हरी, प्रैम ठगोरी लाइ ।
--सखा ! सुनि स्याम के ।

उद्धव कहते है कि—

यह सब सगुन उपाधि, रूप निरगुन है उनकौ ;
निराकार, निरलेप, लगत नहि तीनौ गुन कौ ।
हाथ, पाँइ नहि नासिका, नैन, बैन, नहि कान ,
अच्युत ज्योति-प्रकास ही, सकल बिस्व के प्रान ।
--सुनौ ब्रजनागरी !

उद्धव की इस अद्भुत अत्युक्ति पर, गोपियाँ ठठाकर हँस पड़ी और बोली कि—"बलिहारी लला इन बोलन की" वाह ! क्या कहने हैं आपकी वाक्पटुता के ! अरे भले आदमी—

जो मुख नाहिन हुतो, कहौ किन माँखन खायौ ,
पाँइन-बिनु गो-संग, कहौ को बन-बन धायौ ।

और—

आँखिन मै अंजन दयौ, गोबरधन लयौ हाथ ,
नंद-जसोदा पूत है, कुँवर कान्ह ब्रज-नाथ ।
सखा सुनि स्याम के ।

—नंददास

माया के प्रपंच ही सों भापत प्रभेद सबै ,
काँच-फलकनि ज्यों अनेक एक सोई है ,
देखौ भ्रम-पटल उघारि ग्यान-आँखिनि सौं ,
कान्ह सब ही मैं, कान्ह ही मैं सब कोई है ।

उक्त भाव पर "ग्वाल कवि" की कमनीय कल्पना भी देखिये—

जैसे कान्ह, तैसे ही उद्धव सुजान आए,
हैं तौ महमान पै प्रानन निकारे लेति;
लाख बेर अंजन अँजायौ इन हाथन सौं,
तिन कौं निरंजन कहि झूठ उर धारे लेति।
"ग्वाल कवि" हाल ही तमालन मैं, बालन मैं,
ख्यालन मैं खेले है किलोल किलकारे लेति।

लेकिन हाँ—

यहाँ न परचेरी, परचेरी-संग परचेरी!
जोग-परचेरी भेजि, परचे हमारे लेति।

❀

हम अपने कर सौं दियौ, ऊधौ! अंजन जोई,
दासी सुख-रासी करी, भयौ निरंजन सोइ।

—नवनीत

अथवा—

कर-बिनु कैसैं गाय दुहि है हमारी वह,
पद-बिनु कैसैं नाँचि, थिरिक रिझाइ है;
कहै "रतनाकर" बदन-बिनु कैसैं चाखि—
माखन, बजाइ-बैंनु गो-धन गवाइ है।
देखि, सुनि कैसै दृग-स्रवन बिना हीं हाइ,
भोरे ब्रज-बासिनि की बिपत बराइ है;
रावरौ अनूप कोऊ अलख अरूप ब्रह्म,
ऊधौ! कहौ धौं कौन हमरे काम आइ है।

—और भैया! प्रत्यक्ष में अनुमान की भी तो जरूरत नहीं होती है—"हाथ कंगन को आरसी" की क्या दरकार अस्तु—

"लखि ब्रज-भूप-रूप अलख, अरूप ब्रह्म,
हम न कहैंगी तुम लाख कहिबौ करौ।

❀

हम परतच्छ मैं प्रमान अनुमानैं नाँहि,
तुम भ्रम-भौर लौं भलैहीं बहिबौ करौ;
कहै "रतनाकर" गुबिंद-ध्यान धारैं हम,
तुम मन मानैं ससा-सिंग गहिबौ करौ।
देखति सो मानति हैं, सूधौ न्यात्र जानति हैं,
ऊधौ! तुम देखि हू अदेखि रहिबौ करौ;
लखि ब्रज-भूप-रूप अलख, अरूप ब्रह्म,
हम न कहैंगी तुम लाख कहिबौ करौ।

भैया! वह आपका धीर उद्धव, जोग-जल्पना से जटित अपनी उद्दाम आकांक्षा के आगे जब जोग से भी परे प्रेम-योग की विशद बात न समझ, "नंददासजी" के शब्दो मे पुनः कहने लगा कि—

जाहि कहौ तुम कान्ह! ताहि कोऊ पिता न माता;
अखिल अंड ब्रह्मंड, बिस्व उनहीं मैं जाता।
लीला कौ अवतार लै, धरि आए तन स्यान;
जोग जुगति ही पाइऐ, पर-ब्रह्म-पुर धाम।
सुनौ ब्रजनागिरी!

—तब तो वे आपके गुनन-गरूली गोप-बालायें, कुछ मधुरी सी फटकार बतलाते हुए प्रेम-पीयूष सा निचोड़ती हुईं कहने लगीं कि—ऊधो!

ताहि बतावौ जोग, जोग ऊधौ! जहँ पावौ;
प्रेंम-सहित हम पास, नंद-नंदन-गुन गावौ।

नैन, बैन, मन, प्रान मैं मोहन-गुन रह्यौ पूरि ;
प्रेम-पीयूखै छाड़िकै, कौन समेटै धूरि।
सखा ! सुनि स्याम के।

अथवा—

चुप रहौ ऊधौ ! सूधौ पथ-मथुरा कौ गहौ,
कहौ ना कहानी जो विविध कहि आए हौ ;
कहै "रतनाकर" न बूझि है बुझाएँ हम ,
करत उपाइ बृथाँ भारी भरमाए हौ।
सरल सुभाइ मृदु जानि परौ ऊपर तै ,
पर उर घाइ करि लोंन सौ लगाए हौ ;
रावरी सुधाई मैं भरी कुटिलाई कूटि ,
बात की मिठाई मैं लुनाई लाइ ल्याए हौ।

वाह साहब ! बातों की मिठाई मे खूब नमक मिलाकर लाये ? अरे ऊपर तो—बाहर तो ऐसे सूधे, ऐसे भले, निहायत कमनीय—एकदम कोमल, और अन्दर इतना जहर, अथवा भीतर कूट-कूटकर भरी इतनी कुटलाई ? कुछ ठिकाना है ! वाह, बड़े सुन्दर रहे !

सखी री ! मथुरा मैं द्वै हंस ;
वे अकरूर, ए उद्धव सजनी ! जानत नीकैं गंस।
ए दोऊ नीर-छीर निरबारत, इनहि बँधायौ कंस ;
इनके कुल ऐसी चलि आई, सदाँ उजागर बंस।
—सूरदास

—लेकिन यह तो बतलाओ नीर-क्षीर-विवेकी ! अथवा "विष-रस-भरा कनक-घट जैसे !" कि—

कान्ह-दूत कैधौं ब्रह्म-दूत ह्वै पधारे आप,
धारि प्रन-फेरन कौ मति ब्रजबारी की ;

कहै "रतनाकर" प्रतीति-रीति जानत ना--
ठानत अनीति आँनि नीत लै अनारी की।

अच्छा-अच्छा--
मान्यौ हम, कान्ह-ब्रह्म एकु ही कह्यौ जो तुम,
तौहू हमैं भावति न भावना अन्यारी की;

क्योंकि--
जैहै बनि बिगरि न बारिधता बारिधि की,
बूंदता बिलैहै बूंद बिबस बिचारी की।

अथवा--
जग सपनौं सौ सब परत दिखाई तुम्है,
तातै तुम ऊधौ! हमै सोवत लखात हौ;
कहै "रतनाकर" सुनै को बात सोवत की,
जोई मुख आवत सो बिबस बयात हौ।
सोवत मैं जागत लखत अपने कौं जिमि--
त्यौंही तुम आपु ही सुज्ञानी समुझात हौ;
जोग-जोग कबहूँ न जान्यौ कहा जोहि जकौ,
ब्रह्म-ब्रह्म कबहूँ बहकि बररात हौ।

अस्तु--
ऊधौ! यह ज्ञान कौ बखान सब बाद हमैं,
सूधौ बाद छाँडि, बकवादहिं बढ़ावै को;
कहै, "रतनाकर" बिलाइ ब्रह्म-काइ माँहि,
आपुन सौं आपुनपौ आपुनौं नसावै को।
काहू तौ जनम मैं मिलैगी स्याम-सुंदर सौं,
याहू आस प्रानायाम साँस मैं उड़ावै को;
परिकै तिहारी ज्योति ज्वाला की जगाजग मैं,
फेरि जग जाइबे की जुगति जरावै को।

अरे बावले !—

बिधि कौ सिर पंचम खंड भयौ, मुनि मौर नचे कपि कौ मुख लेते ;
भीलनी सौं महादेव भिरे, सुर-राज कैं चिन्ह भए तन केते।
उद्धव ! रावरे नेक सखा, उन देखे है ढोक गवाँरन देते ;
एकु ही भोग के आसन पै, झक्मारत जोग के आसन जेते।

—गोपी-प्रेम-पीयूष-प्रवाह

अथवा—

आए हौ सिखावन कौं जोग मथुरा तैं तौ पै-
ऊधौ ! ए बियोग के बचन बतरावौ ना ;
कहै "रतनाकर" दया करि दरस दीन्यौ,
दुख-दरिबे कौ तौ पै अधिक बढ़ावौ ना।

क्योंकि—

टूक-टूक ह्वै है मन-मुकर हमारौ हाइ,
चूकि हू कठोर-बैन-पाहन चलावौ ना ;
इक मनमौहन तौ बसिकै उजारीं हम,

इसलिये—

हिय मैं अनेक मन-मौहन बसावौ ना।

प्रेम-साम्राज्य में, वियोगाग्नि-विभूषित बयार बहने पर भी कितनी शीतलता प्रतीत होती है, निराशा के सागर की उत्ताल-तरंगें अविरल गति से लय निमित्त उठते देखते भी प्रिय-मिलन की आशा—वह चाहे इस जन्म में वा दूसरे जन्म में पूर्ण हो, के सहारे जीवन व्यतीत करना, और स्नेह-सलिल से अभिषिञ्चित स्वजनों की सिखावन को दूर से ही नमस्कार करना, प्रेमिकों के सहज स्वभाव का परिचायक होता है। क्योंकि—

अति सूधौ सनेह कौ मारग है, जहँ नैकु सयानप बाँक नहीं ,
तहँ साँचे चलै तजि आपुनपौ, झिझकै कपटी, जे निसाँक नहीं।

प्रिय उद्धव ! अब जरा हमारे योग की भी बानगी देख लो ! जप, तप, से भी अति उत्तापक, विरह-ताप का मजा भी लूट लो ! श्याम-सखे !

पलक गेरुआ गूदरी, अँसुवन-माल सुखैंन ,
सदाँ जगै जल बूड़िकैं, पिय विनु जोगी नैन । ❀

कुछ ऐसा ही भाव कवि-वर "देवजी" ने भी कहा है । यथा—

बरुनी बघंबर मैं गूदरी पलक दोऊ,
कोए राते बसन भिगौहे-भेप रखियाँ ;
बूड़ी जल ही मैं दिन जामिनी जगी है भौं हैं-
धूम सिर छायौ बिरहानल बिलखियाँ ।
अँसुवा-फटिक-माल, लाल-डोरे-सेल्ही पैन्हि,
भई है अकेली तजि चेली संग सखियाँ ;
दीजिऐ दरस ' देव" कीजिऐ सँजोगिन वे-
जोगिनि वनि बैठी है बियोगिनि की अँखियाँ ।

और हमारा योग-यज्ञ—

घृत-अँसुवा, नैना स्रुवा, रोचन-रिचा बिभाग ;
तन-आहुत, बिरहागि मैं, करहि कामिनी याग ।

❀ ऊधौ ! करि रही हम जोग ;
कहा एतौ बाद ठानैं, देखि गोपी भोग ।
सीस सेली, केस मुद्रा, कनक वीरी वीर ,
विरह-भसम चढाइ बैठीं, सहज कंथा चीर ।
हृदै सिंगी टेर मुरली, नैंन-खप्पर हाथ ,
चहॅत हरि की दरस-भिच्छा, दैंइ दीनानाथ ।
जोग की गति जुगति हम पै, "सूर" देखौ जोइ ;
कहत हमसौं करन जोग, सँजोग कैसौ होइ ।

अथवा—

सरस सुधारि कर बेदी प्रेम-वेदना की,
मदन प्रधान पूजा-पाठ-ध्यान धरि हैं;
"नवनीति" मंडप सुहायौ अपवाद ही कौ,
रोदन रिचान के प्रयोगन उचरि हैं।
पूरित वियोग-आँचि हृदय-कमल के कुंड,
एकु तंत्र गोपिन के जूथ अनुसरि हैं;
सकल सँयोग-सुचि नैन के स्रुवान भरि—
घृत-अँसुवान बैठि प्रान-हौम करि हैं।

अस्तु उद्धव !—

जोग ठगोरी ब्रज न बिकैहै;
यह ब्यौहार तिहारौ ऊधौ ! ऐसैइ फिरि जैहै।
जापै लै आए हौ मधुकर ! ताके उर न समैहै;
दाखि छाँड़ि कै कटुक निबौरी, को अपने मुख खैहै।
मुरी के पातन के बदलै, को मुक्ताफल दैहै;
"सूरदास" प्रभु गुनहिं छाँडिकै, को निरगुन निरबैहै।

—हाँ तो नटखट ! उद्धव को "ब्याज चुकाने भेज दिया।" अरे, तो क्या आपकी यही सचाई थी ? क्या यही भूरि-भूरि प्रसंशनीय प्रतिज्ञा का परिचय था ? "कुटिल विष के भरे !" क्या आप इतना भी न जानते थे कि—

जननी, जन्म-भूमि सुनियतु सर्गहु तैं प्यारी; *
सो तजि सबरौ मोह, साँवरे ! तुमनि बिसारी।
का तुम्हरी गति, मति भई, जो ऐसौ बरताव;
किधौं नीति बदली नई, ताकौ पर्‌यौ प्रभाव।
कुटिल विषकौ भर्‌यौ।—सत्यनारायण

* जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।

उफ लालन ! सारी लाज गँवा दी ? कमनीय कुलकानि त्याग दी ? वाहरे सत्य-प्रतिज्ञ ! चले जाना था तो चले जाते, लेकिन एक बात तो सुन जाते ! हमारी एक प्रार्थना पर तो टुक ध्यान धरते जाते । जैसे कि—

वो मुजरिमे-उल्फत है, यह मुजरिमे-दीदार,
दिल लेके चले हो तो लिये जाओ नज़र भी ।

—जिगर

दया करो ! दया करो ! दीनबन्धु दया करो ! और इन "मुँह-जोर तुरंग" तुल्य नयनों को कृपाकर अपने साथ ही लेते जाओ । अरे, अन्याय न करो ! क्योंकि—"दिल मुजरिमे-उल्फत है" और ये चश्मे "मुजरिमे-दीदार" । इसलिए प्यारे ! इन्हे भी साथ लेते जाओ । हम तो "सूरदास" ही भले हैं; क्योंकि—

बिछुरैं पिय के जग सून्यौ भयौ, अब का करिऐ औ पेखिऐ का ;
सुख छाँड़ि कैं संगम कौ तुम्हरे, इन तुच्छन कौ अबलेखिऐ का ।
"हरिचंदजू" हीरन को ब्यवहार कै, काँचन कौ लै परेखिऐ का ;
जिन आँखिन मैं तुब रूप बस्यौ, उन आँखिन सौं अब देखिऐ का ।

—बात तो ठीक है ठाकुर ! बड़ी इनायत होगी; लेते जाइये न । अरे, मेहरबानी की हद हो जायगी ? ऐसान का आखीर हो जायगा ? अस्तु—

दिल लिया है, जान भी ले लो ;

क्योंकि—

हमसे बेदिल रहा नहीं जाता ।

—कोई शायर

भूल हो गई भैया ! भूल हो गयी ! अरे, श्रीमान् को सच्चा कहता ही कौन है ? उसकी तो पोल पहिले ही काफी खुल चुकी

है । अस्तु, नखरेबाज ! क्यों नाहक नटखटी करते हो, कह क्यं नहीं देते कि हम झूठे हैं ! कपटी हैं ! दग़ाबाज हैं । क्योंकि—

नखरौ राह-राह कौ नीकौ ;
इत तौ प्रान जात है निसि दिन, तुम न लखौ दुख जी कौ ।
आवहु वेगि नाथ, करुना करि, मति जु करो मन फीकौ ;
"हरीचंद" इठिलानपने कौ, विधि नै दियौ तुव टीकौ ।

यदुनाथ ! यह तो बतलाइये कि मथुरा से उद्धव को व्रज भेजने में कुछ खास "मसलहत" तो महसूस न थी । कुछ गु इच्छा तो इच्छित न थी ! क्योंकि आपकी कपटता का सहज हं पता नहीं चलता—चालाकी का सुराग कठिनता से ही मिलत है । लेकिन भैया ! आपके इस गुप्त "राज" पर, अंतर-गूढ़ गाथ पर यह "सूर" अंधा होकर भी प्रकाश डालता है, इस उलझन को कुछ-कुछ सुलझाता है । जैसे कि—

जदुपति, जानि उद्धव-रीति ;
जो प्रगट निज सखा कहियतु, करत भाव अनीति ।
बिरह-दुख जहँ नाहि जाँमतु, नाँहि उपजतु प्रेम ;
रेख, रूप न बदन जाकै, यहि धर्यौ वह नैम ।
त्रिगुन तन करि लखत हमकौ, ब्रह्म मानत औरु ;
बिना गुनि क्यौ पुहुमि उधरै, यह करत मन डौरु ।
बिरह-रस के मंत्र कहिऐ, क्यौ चलै संसार ;
कछु कहत हू एकु प्रगटत, अति भर्यौ हंकार ।
प्रेम-भजन न नैकु याकै, जाइ क्यौ समुझाइ ;
"सूर" प्रभु मन इहै आँनी, ब्रजहि देउँ पठाई ।

अथवा—

इहै अद्वैत-दरसी रंग ;
सदाँ मिलि इक सँग बैठत, चलत, बोलत संग ।

बात कहत न बनत यासौं, निठुर जोगी जंग ;
प्रेम सुनत बिपरीति भाषत, होत है रस भंग।
सदाँ ब्रज कौ ध्यान मेरै, रास, रग, तरंग ;
"सूर" वह रस कहौं कासौं, मिल्यौ सखा भुरंग।

सत्य बात है! एकदम ठीक है! योगी को संयोग की कथा भुस का कूटना सा तो है ही, फिर हृदय की अकथ कथा किसके प्रति कही जाय? सच है भैया! विपरीत बातों से रस-भंग हो ही जाता है—सारा सुरस नीरस हो जाता है। अन्धे के आगे रोना-सा होता है, अस्तु, काग और हंस का संयोग कौन ठीक कहेगा?—

हंस, काग कौ संग भयौ ;
कहँ गोकुल, कहँ गोप, गोपिका, बिधि यह संग दयौ।
जैसै कंचन काच-संग, ज्यौं चंदन संग कुगंधि ;
जैसै खरी कपूर एकु सम, यह भई ऐसी संधि।
जल-बिनु मीन रहत कहुँ न्यारे, इहि सो रीति चलावत ;
जब ब्रज की बातै कछु कहियतु, तबहि तबहिं उचटावत।
याकौ ग्यान थामि ब्रज पठिहौं, और न कछुक उपाव ;
सुनौ "सूर" ब्रज तुरत पठावहुँ, भलौ बन्यौ है दाव।

यदुपति! "अन्धे को, सूझी तो बड़ी दूर की।" कहिये प्रभो! आपका यह मुँहलगा भक्त—सेवक कितनी दूर की कौड़ी लाया है, कितना औड़ा गोता लगाया है। धत्तेरे उद्धव की! अरे भले-आदमी! कहीं चन्दन के पास कुगंध रह सकती है? भैया! खलिया मिट्टी की कपूर के साथ संधि कैसी? अस्तु, नाथ! अब तो आपके मन की साथ पूरी हो गयी!

"कपट करै हूँ प्यारे! निपट भले लगौ"

⁂

अंतर गठीले मुख ढीले-ढीले बोल बोलौ,
सुन्दर सुजान ! तऊ प्रानन खरे पगौ ;
साँचु कैसी सूरति हो आँखिन मैं पैठि आईं,
महा निरमोही मोहि मोह सौं मढे ठगौ।
"आँनद के घन" उघरे पै छल छाइ लेति,
कटुता भरी रौम-रौम, रौंम रौंम अमी अगौ ;
वाह प्रभु ! वारी, पति रही न तिहारी अब—
"कपट करौ हूँ प्यारे ! निपट भले लगौ।

कुछ इसी भव्य भाव पर किसी उर्दू कवि ने क्या सुन्दर सूक्ति सूजी है। यथा—

जब इतनी बेवफ़ाई पर, उसे दिल प्यार करता है ;
तो या रब ! वह सितमगर बा-वफ़ा होता तो क्या होता।

भगवन् ! आपके इस कमनीय कपट की पोल "सुमरेशजी" ने भी खोली है—इनने भी इस पर्दे-फास में पैर फँसाया है। यथा—

मेरौ सखा, बरु मेरौ कहाइ कैं, भाँखत बे-गुन ब्रह्म बताइऐ ;
प्रैम कौ पथ कहै "सुमरेस" तौ ग्यान के बान तैं ताहि उड़ाइऐ।
कारन ब्रह्म कौ माँनत मोहि, सु निरगुन सुद्ध सौं भिन्न बताइऐ ;
भेजु कैं आमतिन-भौंन भलैं, अब उद्धव प्रैम कौ पंथ सिखाइऐ।

क्योंकि—

सब अधिकारी हैं नहीं, पै यह प्रैंम-समाज ;
या तै उद्धव भेजिऐ, एकु पंथ द्वै काज।

—नवनीत

हाँ साहब ! इसके सब कोई अधिकारी नहीं होते ! इस पावन मार्ग के हर कोई पथिक नहीं हो सकते ! अरे, यह तो आप की

"कलित कृपा" का अणुमात्र सा दिग्दर्शन है, तनिक सा इशारा है, इसलिये खूब किया। "एक पंथ, दो काज" खूब बनाये। चट्टेबट्टे लड़ाकर अपना मतलब साधना—सच बात तो यह है कि आपको ही आता है; और किसी को भी नहीं। वाह! कायाकल्प करने का क्या सुन्दर नमूना प्रस्तुत कर दिया—धन्य हैं, धन्य! अस्तु; देखो-देखो भगवन्! वह देखो, आपका प्रिय सखा— "कालका जोगी, कलींदे का खप्पर" * लिये और गोपियो के प्रेम-सलिल मे अपने ब्रह्म-ज्ञान को गर्क किये, कैसा भागता हुआ आ रहा है। देखिये न—

"निजजू" सुकवि ब्रज छोड़िवौ न भावै ऊधौ!
सचराचर कृष्णमई देखि अनुरागे है,
समाधान पाइ बनितान सौं सुजान-मति—
भानु की कुमारी के पाँइ पुनि लागे है।
आग्या लै उनकी प्रयान कौं चढ़े है रथ,
सकल सँदेस धारि द्वैत-रस पागे है;
प्रेम मैं मगन भूलि गए ब्रह्म-ग्यान सबै,
गुरु हौन आए पै चेला होइ भागे है।

भैया! आपके एक अनधिकारी अन्ध भक्त ने भी उद्धव के प्रत्यागमन के प्रेममय पुनीत चित्र को, चित्त में चुभने लायक चित्रित किया है। क्या, मुलाहिजा फर्मायेगे? यथा—

" हाथी के कुंभ कौं हाथ चलावत, टूटत है जिन पै नहिं पप्पर,
काम यहाँ कछू सीजै सरै नहिं, बातन आनि उठावत छप्पर।
देखति काहि दिखावत हौ कहा, कैसैं रँगैं हम गेरुआ—कप्पर,
ऊधौ जू! जोग कौं जानौं कहा तुम "काल के जोगी, कलींदे कौ खप्पर।

—ग्वाल

गोपी, ग्वाल, नंद, जसुदा सौं तौ विदा ह्वै उठे—
उठत न पाँइ पै उठावत उठत हैं ;
कहै "रतनाकर" सँभारि सारथी पै नीठि,
दीठिनि बचाइ चले चोर ज्यौं भगत हैं।
कुंजन की, कूल की, कलिंदी की रुऐंडी दसा—
देखि-देखि आँस औ उसाँस उमँगत हैं ;
रथ तैं उतरि पथ-पावन जहाँ ही तहाँ—
विकल बिसूरि धूरि लोटन लगत हैं।

अथवा—

भूले जोग-छैम प्रेम-नैंमहिं निहारि ऊधौ !
सकुचि समाने उर अंतर......हरास लौं ;
कहै "रतनाकर" प्रभाव सब ऊँने भए,
सूँने भए नैंन, बैन अरथ उदास लौं।
माँगी बिदा, माँगत ज्यौं मीच उर भींच कोऊ,
कीन्यौ मौन गौन निज हिय की हुलास लौं ;
विथकित साँस लौं चलत रुकि जात फेरि—
आँस लौं गिरत पुनि उठत उसाँस लौं।

अथवा—

चल चित पारद की दंभ-कैंचुली कै दुरि,
ब्रज मग-धूरि प्रेम-मूरि सुभ सीली लै ;
कहै "रतनाकर" सु जोगनि बिधान भाव ;
अमित प्रमान ग्यान-गंधक गुनीली लै।
जारि घट-अंतर ही आह-धूम-धारि सबै,
गोपी बिरहागिनि निरंतर जगीली लै ;
आए लौटि ऊधव ! बिभूति भव्य-भाइनि की—
काइनि की रुचिर रसाइन-रसीली लै।

अथवा—

आए लौटि लज्जित नवाएँ नैंन ऊधौ अब,
सब सुख-साधन की सूधौ सौ जतन लै ;
कहै "रतनाकर" गँवाइ गुन, गौरव औ—
गरब-गढ़ा कौ परिपूरन पतन लै।
छाए नैन नीर, पीर कसक कमाएँ उर,
दीनता अधीनता के भार सौं नतन लै ;
प्रेम-रस रुचिर बिराग-तूमरी मैं पूरि,
ग्यान-गूदरी मैं अनुराग कौ रतन लै।

उद्धव के प्रेमपगी अद्भुत अधीरता की कारुणिक कथा, बड़े ही करुण शब्दो मे "नंददासजी" ने भी कही है, और खूब कही है।

प्रेम विवस्था देखि, सुद्ध अति भक्ति-प्रकासी ;
दुविधा-ग्यान गिलानि-मंदता, सगरी नासी।
कहत भयौ निस्चै इहै हरि-रस की निज पात्र ;
हौ तौ कृत-कृत ह्वै गयौ, इनके दरसन मात्र।
मैटि मल-ग्यान कौं।
पुनि-पुनि कहि हरि कहन बात एकान्त पठायौ ;
मै इनकौ कछु मरम, जानि एकौ नहि पायौ।
हौं कह निज मरजाद की, ग्यान रु करम निरोपि ;
ए सब प्रैमासक्ति ह्वै रहीं लाज कुल लोपि।
धन्न ए गोपिका।
जो ऐसी मरजाद-मैंटि, मौहन कौ ध्यावै ;
क्यौ नहि परमानंद, प्रेम-पदवी कौं पावै।
ग्यान, जोग सब करम तैं, प्रैंम-परे ही साँचु ;
हौं यौ पटतर देति हौं, हीरा आगैं काँचु।
विसमता बुद्धि की।

धन्न-धन्न ए लोग, भजत हरि कौं जो ऐसैं ;
औरु कोऊ बिनु रसहि, प्रेम-पावत है कैसै।
मेरै वा लघु-ग्यान कौ, उर मैं मद होइ व्याधि ,
अब जान्यौं ब्रज-प्रेम की, लहत न आधौ आधि।
वृथा स्रम करि मर्‍यौ।
पुनि कहि परसत पाँइ, प्रथम हौ इनहिं निवार्‍यौ ;
भृंग-संग्या करि कहत, निठ सबहिन तैं डार्‍यौ।
अब ह्वै रहौ ब्रज-भूमि के, मारग मै की धूरि ;
विचरत पग मो पै धरै, सब सुख जीवन-मूरि।
मुनिन-दुरलभ अहै।
कै ह्वै रहौ द्रुम, गुल्म-लता, बेली बन माहीं ;
आवत जात सुभाइ परै, मो पै परछाहीं।
सोऊ मेरे वसी नहीं, जो कछु करौ उपाइ ,
मोहन हौहिं प्रसन्न जो, इहि वर माँगौ जाइ।
कृपा करि दैहि जो।
पुनि कहै सब तैं साधु-संग, उत्तम है भाई ;
पारस परसैं लोह, तुरत कंचन ह्वै जाई।
गोपी-प्रेम-प्रसाद सौं, हौही सीख्यौ आइ ;
ऊधौ तै मधुकर भयौ, दुबिधा-ग्यान मिटाइ।
पाइ रस प्रेम कौ।

आपके प्रेम-रस से विमत्त "श्री शुक" भी तो ज्ञानवृद्ध उद्धव द्वारा यही कहलाते हैं कि—

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां,
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ;
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा,
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्।

अर्थात्—यदि मेरा जन्म, इन गोपियों के चरण-रज से सेवित वृन्दाविपिन के गुल्म, लता और औषधियों में हो तब कहीं यह निरर्थक जीवन सार्थक हो। क्योंकि इन्होंने "या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा..." यानी स्वजनो के सिखावन स्वरूप वेद-विहित आर्य-पथ का परित्याग कर, श्रुतियो द्वारा ढूंढे गये श्री मुकुन्द भगवान सेवन किये—अथवा भजे। ब्रह्माजी भी कहते है कि—

> तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां,
> यद्गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोभिषेकम् ,
> यज्जीवितं तु निखिलं भगवान्मुकुन्द—
> स्त्वद्यापि यत्पदरज' श्रुतिमृग्यमेव ।

अर्थात् इस भूमि पर, और तिस पर भी वृन्दावन में गोकुल के पास, जन्म होना ही परम सौभाग्य है; क्योकि यहाँ जन्म लेने से कभी-न कभी यहाँ के निवासियों की चरण-रज पड़ ही जायगी और मेरा जन्म कृतार्थ हो जायगा। ये गोकुल-वासी! आह, कितने धन्य है कि जिसे श्रुतियाँ आजतक टकटोहती हुई अनादि, अनन्त कहकर भी न पा सकीं, और अब तक बराबर खोज ही रही हैं; वही इनका जीवन-सर्वस्व हो रहा है।

भैया! अव्वल तो आपके प्रेम के पगले, अपनी किसी प्रकार की आकांक्षा उद्घोषित करते ही नही—इच्छायें प्रदर्शित करते ही नहीं, और यदि कभी कोई कमनीय कामना कलेजे से बाहर निकली भी तो एकदम पागलो जैसी? सरकार! कोई तो आपके पादपद्म की पवित्र धूलि होना चाहेगा, तो कोई निकुंजस्थली की ललित-लतिका? और कोई आपके मधुवन के मोर होना चाहेगा, तो कोई

वृन्दाविपिन की सुकसारिका ? कोई नित्य-विहारस्थली निधिवन के फूल-पत्ते होना चाहता है, तो कोई टोंड़ के घने का काँटा ? कोई अपने—आप जैसे निष्ठुर प्राण-प्रियतम को निरखते निरखते प्राण-परित्याग की अतुल आशा को आलिगन करना चाहता है, तो कोई आंपकी प्रेम-पातीं को मरते समय छाती पर तुलसीदल के बदले रख देने की अभिलाषा-उद्भाषित करता है। आह , कैसी कमनीय अभिलाषायें हैं—कितनी कोमल आकांक्षायें है !

आँख मेरी तलुओं से वह मल जाय तो अच्छा ,
यह हसरते पा बोस निकल जाय तो अच्छा ।

—जौक़

मरते दमतक भी वह मेरा प्यारा ! अगर आकर अपने तलुओ से मेरी इन अभागिनी आँखों को मल जाय, अपने पुनीत पाँव के कोमल तलुओं को सफा करने के निमित्त ही यदि नेत्रद्वय से रगड़ जाय तो अच्छा क्या, निहायत अच्छा हो। आह , मेरी किसी तरह उसके पैर चूमने की हसरत तो हृदय से निकल जाय। दिल की दुर्दमनीय अभिलाषा कुछ तो पूर्ण हो जाय। क्योंकि—

नहीं इश्क़ का दर्द लज़्ज़त से खाली ;
जिसे "जौक़" है वह मज़ा जानता है।

प्यारे ! आपके पावन प्रेम की पगली एक गोपी ने उद्धव के जोग की जटिल जल्पना से जल कर यही जवाब दिया था—कुछ ऐसी ही उद्दाम आकांक्षा का प्रस्फुटन कर, अपार आनंद का सुख लूटा था कि—

ऊधौ ! यह तन जो कोउ फेरि बनावै ;
तऊ नंद-नंदन तजि प्यारौ, और न मन मैं आवै।

जो या तन की तुचा काढि कै, सुभग दुन्दुभी सजई ;
मधुर उतंग सब्द-सुर निकसै, लाल, लाल ही बजई ।
छूटै प्रान मिलै तन माटी, द्रुम लागैं तिहि ठाम ,
कह अब "सूर" फूल, फल, साखा, लेति उठै हरि-नाम । ❀

अर्थात् उद्धव ! किसी काम में न आने वाले इस नश्वर शरीर की यदि पुनर्वार रम्य रचना हो तो, उस परम प्यारे नंद-नंदन व्रज-चंद के अलावा अन्य फिर भी मन मे न अट सकेगा ! इस हृदय-सिंहासन पर उनके सिवा और कोई को जगह प्राप्त न होगी, न होगी ! क्योंकि इस तृणवत् तन की तुच्छ त्वचा निकाल कर—खाल खींच कर यदि कोई अपनी मनोहर मृदंग मनोनीत करे, तो बजाने पर उसके सुमधुर उतंग सुस्वर से लाल-लाल की ही सरस सदा निकलेगी; लाल-लाल की आवाज ही उद्घोषित होगी, और इसी तरह प्रपंची-प्राण के छूटने पर पंचतत्व, पंचतत्व में परिणत हो, तो पृथ्वीतत्व मृत्तिका मे परिणत अवश्य ही होगा, साथ ही उस मृदुल मृत्तिका मे पवित्र पेड़ प्रस्फुटित होंगे हो ? अस्तु; उनके फल, फूल, शाखा प्रभृत्ति विविध विधानमय अनन्त उपादान—उसके प्रत्येक अवयव, प्यारे के पवित्र नाम की ही रमणीय रट लगायगे, और किसी की नहीं ।

❀ कुछ ऐसा ही "नागरीदास" जी कहते हैं—

उधौ ! बृथाँ करत बकवाद ,
हम जान्यौ, तुम जान्यौ नाहीं, रूप-सुधा-सुख-स्वाद ।
सकल ब्रज मौहन मई है, गोप गोपी गाइ ,
तिन्हैं विनु घन-स्याम सुन्दर, कैसैं औरु सुहाइ ।
तन हमारे खंड-खंड करि, देहु जो भुँम्र-डार ,
न्यारे न्यारे लिपट जाँइ लखि, "नागर" नंदकुमार ।

दफ़्न करना मुझको कूँचए—यार मे,
कब्र बुलबुल की बने गुलजार मे ।

—कोई शायर

वाह ! विपुल विरह का कैसा विशद वर्णन है ! पावन प्रेम का कैसा कोमल भावना-विभूषित भव्य भाव है ! कैसी अनूठी अभिलाषा है ! अनुपम इच्छा की कितनी सुन्दर तस्वीर है, वाह !

श्रीमान् ! आपके प्रेममय सुरस से परिप्लावित "रसखान" भी तो यही चाहते हैं कि—

मानुष हौउँ तौ वही "रसखानि" वसौ ब्रज गोकुल-गाँव के ग्वारनु ;
जो पसु हौउँ तौ कहा बस मेरौ, चरौ नित नंद की धेनु मझारनु ।
पाहन हौउँ, तौ वही गिरि कौ, जो धर्यौ कर छत्र पुरन्दर धारनु ;
जो खग हौउँ तौ बसेरौ करौ, मिलि कालिन्दी-कूल-कदम्ब की डारनु ।

प्यारे ! इसी तरह आपके भव्य भक्त कृष्णगढ़ाधीश नागरीदासजी की भी अनोखी अभिलाषाएँ हैं । यथा—

कब वृन्दावन-धरनि मै, चरन परैगे जाइ ;
लोटि धूरि धरि सीस पै, कछु सुख हू मै पाइ ।

❀

पिक, केकी, कोकिल कुहुक, बन्दर-बृन्द अपार ;
ऐसे तरु लखि निकट कब, मिलिहौ बाँह-पसार ।

❀

कबै झुकत मो ओर कौ, ऐहै मद गज-चाल ;
गरबाँही दीनैं दोऊ, प्रिया नवल-नंदलाल ।

❀

कब दुखदाई होइगौ, मोकौ बिरह अपार ;
रोइ-रोइ उठि दौरिहौं, कहि कहि नंदकुमार ।

❀

नैंन द्ववैं जल धार लौं, छिन-छिन लेति उसास ;
रैंनि अँधेरी डोलि हौं, गावत जुगल उपास ।

❀

पाँइ छिदत काँटेनु तैं, स्रवत रुधिर सुधि नाँहि ;
पूँछति हौं फिरिहौं तहाँ, खग, मृग, तरु बन माँहिं ।

❀

हेरत, टेरत, डोलिहौ, कहि-कहि स्याम सुजान ;
गिरत-फिरत वन-सघन मैं, यौंही छुटि हैं प्रान ।

—और लो ! कुछ ऐसी ही सरस शर्तें "ललित-किशोरीजी" भी पेश करते हुए कहते हैं—

कदँब-कुंज ह्वै हौं कबै, श्री वृन्दावन माँह ;
"ललित-किसोरी" लाड़िले, बिहरैंगे दै बाँह ।

❀

सुमन-वाटिका विपिन कौ, कब ह्वै हौं मैं फूल ;
कोमल कर दोऊ भोवते, धरिहैं वीन-दुकूल ।

❀

मिलि है कब अँग छार ह्वै, श्रीबन-वीथिन-धूरि ;
धरिहैं पद पंकज बिमल, मेरे जीवन-मूरि ।

❀

कब कालिन्दी-कूल कौ, ह्वै हौ तरुवर डारि ;
"ललित-किसोरी" लाडिले झुलिहैं झूला डारि ।

भैया ! एक भक्त की अपूर्व इच्छा—अनुपम अभिलाषा और सुन लो । ओह ! कितनी कातरतायुक्त पुनीत प्रार्थना है, कि सुनकर दिल फड़क उठता है । यथा—

पञ्चत्वं तनुरेति भूतनिवहाः स्वांशैर्मिलन्तु ध्रुवं ;
धातारं प्रणिपत्य हन्त शिरसा तत्रापि याचे वरम् ।

तद्वापीषुपयस्तदीयमुकुरे ज्योतिस्तदीयाङ्गन—
व्योम्निव्योम तदीयवर्त्मनि धरा तत्तालवृन्तेऽनिलः ।

प्रभो ! यह शरूर भरा शरीर, पंचतत्त्वों के पृथक्-पृथक् स्वकारणों मे लय हो तो, कृपाकर इतना अवश्य कीजियेगा कि इसका जल तो, उस सुन्दर सरोवर में समा जाय जिसमें कि मेरा प्रियतम स्नान करता हो। तेज तत्व, उस दिव्य दर्पण मे लीन हो जाय, जिसमें कि प्यारा मुखड़ा देखता हो, और आकाश तत्व, उसके गृहाकाश मे गुम्फित होकर घर का चँदवा बन जाय, तथा पार्थिव-तत्व यानी पृथ्वीतत्व, उसके मनोहर मार्ग में मिल जाय, जिसमें कि वह अपने कोमल-कोमल चरण धरता हुआ, चलता हो, इसी तरह नाथ ! इस शरीर के वायुतत्व को उस पंखे में परिवर्तित कर दीजिये, जिससे कि वह अपने श्रमसीकर सुखाता हो। तात्पर्य यह कि मेरे इस अधम शरीर के मरने पर भी—अलाहिदा-अलाहिदा तत्व अलविदा होकर भी, प्यारे की सेवा में ही संलग्न रहें। वाह ! कैसी चोखी चाहना है—

निकल जाय दम तेरे कदमों के नीचे ;
यही दिल की हसरत, यही आरजू है।

—कोई शायर

प्यारे! इन प्रेमियों की कैसी ऊटपटाँग चाहना है—फल, फूल, पेड़, पत्ता और उसका काँटा एवं रज, पत्थर, पवन, मोर, चकोर आदि न जाने क्या-क्या बनने को विपुल उत्सुक हैं,—तैयार हैं। लेकिन बशर्ते आपका दिल-लुभाने वाला दीदार नसीब होता रहे, आपके शुभ मिलन के सहायक हो, साधक हो, अन्यथा नहीं ! नहीं !! नहीं !!!

नाथ ! आपका वह प्रिय सखा, विपय-विपरीत बोलने वाला बहादुर ! अब पहिले जैसा नही रहा । अजी वह तो पारसमणि परस कर सरस सुगन्धयुक्त सुवर्ण बन आया है—खरा सोना हो गया है । व्रज की बयार से वहक कर, आज वह भी हृदय की थाली मे—

"अँसुवन सौं सींचि सीचि, प्रैम-वेलि......"

❀

"मेरैं तो गिरधर गुपाल, दूसरौ न कोई" ;
जाके सिर मोर-मुकुट, मेरौ पति सोई ।
तात, मात, भ्रात, बन्धु, अपनौं नहिं कोई ;
कुल की कॉनि छॉड़ि दई, करिहै का कोई ।
संतन-ढिग बैठि-वैठि, लोक-लाज खोई ;
चुनरी के किये टूक-टूक, ओढ़ि लई लोई ।
मोती, मूँगा उतारि, बन-माला पोई ;
"अँसुवन-जल सीचि सीचि प्रैम-बेलि वोई ।"
अब तौ वेलि फैल गई, आनँद-फल होई ; ❀
दूध की मथनियॉ वड़े, प्रैम सौ विलोई ।
माखन जब काढ़ि लियौ, छाछ पिऐ कोई ;
आई मैं भक्त काज, जगत देखि मोई ।
दासि "मीरॉ" गिरिधर प्रभु ! तारे सब कोई ;

कुछ ऐसा ही "तानसेन" जी ने भी कहा है; और खूब कहा है । यथा—

❀ हमें उक्त पद का यह अंश इस प्रकार याद है—

"अब तौ वात फैल गई, जानत सब कोई"

इन अँखियनु, मन मै, बिरह की वेलि बई ;
सींचि सींचि अँसुवन-पानी री ! दिन-दिन होत चाँह नई ।
उलहत पातन नए बूँद सौं, जर पाताल गई ;
"तानसैन" प्रभु तुमरे दरस बिनु, सब तन छीन भई ।

—के कोमल भावमय सरस सुमनो के साथ, अन्तर्हित निगूढ़ ज्वाला के दीपक जलाये। और विरह उत्ताप से उत्तापित अन्तर्धूमरूप अगरबत्ती की धूप को धरे, तथा जीवन के नवीन नैवेद्य के साथ उत्साह के अक्षत रख, आपकी कुटिलता का महिम्नपाठ पढ़ता, पूजा निमित्त दौड़ा चला आ रहा है। श्रीमान् ! उसकी जरा सरस स्तुति तो सुन लो ! यथा—

करुनामयी रसिकता है, तुम्हरी सब झूँठी ;
तब ही लौ कहौ लाख, जबहि लौ बँधि रही मूँठी ।
मैं जान्यौ व्रज जाइकैं, निरदे तुम्हरौ रूप ;
जे तुमकौं अवलंब हीं, तिनकौं मेलौ कूप ।
कौन यह धरम है ।

—नंददास

अरे ! आपकी सारी रसिकता, सम्पूर्ण प्रेम प्रवीणता, मैंने व्रज जाकर देख ली, वह सब असत्यता से अलंकृत है। उफ ! यह आपका निर्दयी रूप, झूठ के अनोखे अलंकार से आपाद-मस्तक सुशोभित है। श्रीमान् ! जब तक हाथ की मुट्ठी बँध रही थी, तब तक ही खैर थी ! अस्तु; लाख-लाख कपटयुक्त बातों का जो विचित्र जाल बिछा रखा था उस सबकी, व्रज जाकर कलई खुल गयी—ढोल की पोल मालूम हो गयी ! बतलाईये, बतलाईये ! यह कौन सा धर्म है ? कौन सी नीति-निपुणता है ? कि—

"जो तुमकौं अवलम्ब हीं, तिनकौं मेलौं कूप"

—उनको कुए मे कूदा दों ? गढ़े में गिरा दो ? अथवा विरह-सिन्धु मे डुबा दो ? वाह साहब ! अच्छा न्याय का नमूना प्रदर्शित करते हो ?

प्यारे उद्धव ! किससे क्या कह रहे हो ? अरे, इनके लिये तो आपके सन्मुख पहिले ही अनोखा आशीर्वाद चस्पा किया जा चुका है। इन "नीम-चढ़े करेले"* की ख्याति-प्रख्याति करने को पहिले ही नोटिस बटवा दिया है। जैसे कि—

ऊधौ ! कारे सबहि बुरे ;
कारे की परतीति न कीजै, बिष के बुते छुरे।
कारौ अंजनि देति दृगन मैं, तीखी सान धरे ;
नागनाथ हरि बाहर आए, फन-फन निरत करे।
कोइल के सुत कागा पाले, अपनोई ग्यान धरे ;
पंख लगे जब गए सु उडिवे, अपने काम सरे।
"सूर" स्याम कारे, मतवारे, कारे तैं काल डरे।

—हाँ उद्धव जी ! कालों की प्रतीति कभी न करना, क्योंकि वे सब-के-सब बड़े बुरे होते हैं, और बुरे भी कैसे कि "विष के

* उक्त उक्तिपर "रजूर" का विचार विभ्राट देखिये—

मैंने जो कसीदा उसकी मुदहत में पढा ,
और उस बुते मगरूर का पिंदार बढा।
था तो पहिले से करेला—कडवा ,
इस पर गजब हुआ कि नीम चढा।

अथवा—

एक गुलाम गाँव कौ ठाकुर, एक मथुरिया वेद पढा ,
एक बाँदरा बीछी काटो, एक करेला नीम चढ़ा।

बुझे छुरे" की तरह महा भयानक ! अत्यन्त दाहक ! अस्तु; इनका कभी विश्वास न करना—न करना ! देखो न "नंददासजी" भी तो यही निनाद कर रहे हैं कि—

कोऊ कहै सखि ! विस्व माँहि जेतकि है कारे ;
कोटि कपट की खाँन, कुटिल मानुष विषवारे।

क्योंकि—

एकु स्याम-तन परसि कै, जरत आजु लौं अंग ;
ता पाछैं फिरि मधुप यह, लायौ जोग भुअंग।
कहा इनकौ दया।

—और "ललित-किशोरी जी" का भी "फतवा" लो ! ये भी "सूरदास" और "नंददासजी" की हाँ-में-हाँ मिलाते यही फर्माते हैं कि—

मधुकर ! मेरे ढिंग जनि आइ ;
तैं हरजाई बंस, कलंकी, सब फूलन बसि जाइ।
"कारे सबै कुटिल जग जाने, कपटी निपट लवार" ;
अमृत पान करि विष उगलै अहि-कुल परतच्छ निहार।
देखति चिकनी सुभग चमकती, राखी मंजु बनाइ ;
कारी-अनी बान की पैंनी, लगत पार ह्वै जाइ।
कारी निसि चोरनु कौ प्यारी, औगुन भरी अनेक ;
"ललित-किसोरी" प्रीति न करिहौ, कारे सौं यह टेक।

धन्य भगवन्, धन्य ! आपने काले होकर क्या कुटिलता की, सब कालो के सर ही कुटिलता मढ़ दी—सबको अपनी जमात में शामिल कर लिया ? अब कोई काहे को कालों से प्रीति करेगा ! प्रतीति करेगा ! क्योंकि अब तो वे—

"जग जाने, देस बखाने"

—हो गये ! उनका कपटी होना अखबारों में छप गया, "हैंडबिल" बट गये, फिर भी इतबार ? विश्वास ? भला जीते जी मक्खी कौन निगलेगा ? प्रत्यक्ष अनुभव करके भी कौन विश्वास करेगा ? क्योंकि—

करार करके न आया वो संगदिल काफ़िर ;
पड़े करार पै पत्थर ये कुछ करार हुआ ।
—नजीर

भैया ! यह न समझना कि मथुरा आगमन के अनन्तर ही यह "फतवा" पब्लिक में शाया किया गया हो—यह सिगूफा आप की अदम मौजूदगी मे ही जाया किया गया हो । नहीं भगवन् ! इसके पहिले भी आपके इस बाहरी रुचिर रंग का रमणीय वर्णन, आन्तरिक कलुषता के साथ कई बार हो चुका है । जैसे कि—

"गोबिद" प्रभु पिय भलैं जु भलै आए—
जानि पाए जैसे तन-स्याम वैसे ही मन कारे । *

श्यामसुन्दर ! अपने इस काले रंग की एक दिल्लगी और सुनिये । एक दफे आपको और "श्रीप्रिया" जी को एक ही सेज पर सुलाने का वृथा प्रयास किया गया, तो श्रीप्रिया जी आज्ञा करती हुई कहती है कि, यह बात कदापि नही होने की ! क्योंकि मुझे इस काले-कलूटे के साथ "हम-बिस्तर" होकर काली नहीं होना है, मुझे साँवली-सलोनी नही बनना है । जैसे कि—

* रसमसे नंददुलारे ! आए हौ उठि भोर ;
अरुन नैंन, बैंन अटपटे, भूषन दिखयतु, जहँ-तहँ अधरन-रँग-भारे
किन अब बाद करत गुसाँई । जहीं जावौ हो जाके प्रान-प्यारे ,
"गोविंद" प्रभुप्रिय भलैं जु भलैं आए, जानि पाए, जैसे तन स्याम, तैसेई मन-कारे ।

राधिका-माधवै एकु ही सेज पै, धाइ लै सोईं सुभाइ सलौंने ;
पारे "महाकवि" कान्ह कौं मध्य मैं, राधे कह्यौं–"यह बात न हौने"।

क्योंकि—

"साँवरी होंउँगी साँवरे-रंग मैं", बावरी तोहि सिखाई है कौंने ;

अरी—

सौंने कौ रंग कसौटी लगै, पै कसौटी कौ रंग लगै नहिं सौंने।

—महाकवि

अथवा—

न्हात ही न्हात तिहारेई स्याम ! कलिन्दियौ स्याम भई बहुतै हैं ;
धोखेंहू धोइ हौ या मै कहूँ तौ, यहै रँग सारिन मैं सरसै हैं।

और—

साँवरे-अंग कौ रंग कहूँ, यह मेरे सु-अंगन मैं लगि जैहैं ;
छैल-छबीले छुओगे जु मोहिं, तौ गातन मेरे गुराई न रैहैं।

—मनोज-मंजरी

प्यारे ! मुझे छू न लेना; क्योंकि—आपका जरा भी स्पर्श हुआ कि मेरी सारी गोराई गर्द हुई। खुबसूरती का खातमा ही समझो ! अजी मैं तो काली-कलूटी बन जाने के भय से कलिन्द-नंदनी में नहाने की बात तो क्या अपनी साड़ी भी श्याम रंग चढ़ जाने के भय से—आप जैसा रंग चढ़ जाने के ख्याल से, धोखे मे भी नहीं धोती ! कारण कि श्रीमान् ने नहा-नहा कर उसे भी काली-कलूटी बना दिया है ! उसमें भी अपना अनोखा रंग घोल दिया है ! अस्तु; जरा दूर ही रहें नाथ ! कृपया पास न आयें; और न मुझे छूए हीं।

खेलत जानेसि रोलिया, नंदकिसोर,
छुइ वृषभानु-कुमरिआ, भैगा चोर। —रहीम

यह कुछ झूठ नहीं है, देख न लो! खुद श्रीमान् का पीला-पट भी इस काले-कलूटे रंग के प्रभाव से साँवला हो गया है। यथा—

भोर ही आवत नौल किसोर, बिलोकति ही ललना उठि दौरी ;
"बैनी-प्रवीन" दोऊ कर सौं गहि गाढ़े कै लागि गई लड़बौरी।
जानैं कहा ए अजानी सबै, मैं दिखाइ हौं लै सखियाँनु कौं औरी,
"साँवरे-रंग लगैं हरि रावरौ, साँवरी ह्वै गई पीत पिछौरी।"

❀

"रहिमन" उजली प्रकृत कौ, नहीं नीच कौ संग ;
करिया बासन कर गहै, कारिख लागत अंग।

श्रीमान्! "सूरदास" जी की "रिसर्च" की रिपोर्ट से पता लगा है कि-

"कारे सौं काल डरै"

—अर्थात् काले से अथवा काले रंग वाले आप से, काल डरता है। लेकिन कोई इन से पूछे कि, अय अपनी गाँठ की रकम न रखने वालो! कहीं काले के आगे आजतक चिराग जला है? * अरे, यह रंग ही ऐसा अनोखा है कि इसके पास तो क्या; इनके "हमजोलियों" के पास भी—इनके भव्य भक्तो के नजदीक भी, काल की दाल नहीं गलती। वे तो जन्म-मरण से मुक्त हो उन जैसे ही हो जाते है—काले कलूटे ही बन जाते है? फिर काल की दाल गले तो क्योंकर गले!

मृत्युकाले द्विजश्रेष्ठ! रामेति नाम यः स्मरेत् ;
स पापात्मापि परमं मोक्षमाप्नोति जैमिने!

* ब्रज-मोहन-पिय, मोहन काज ;
किए जतन बहु, तिय तजि लाज।
बन्यौ न ज्यौं बखान जग करै,
कारे आगै दीपक बरै!—लोकोक्ति-नायिकाभेद

अर्थात् हे जैमिने ! जीवन की बात छोड़ो, मृत्यु-समय भी यदि रामनाम वा कृष्णनाम का स्मरण क्षणिक हो जाय, तो भी कैसा ही पापात्मा क्यों न हो फिर मोक्ष होना ध्रुव सत्य है।

अजी हजरत ! मुक्ति की चर्चा चलाना ही असंगत है, क्योंकि—वह (मुक्ति) भगवत-सेवा से मीठी नहीं है, मधुर नही है। सेवा की होड़ मुक्ति भकुई क्या खाकर करेगी—

> सेवा मदन-गुपाल की, मुक्ति हु तैं मीठी ;
> जानै रसिक उपासक, जिन सुक-मुख तै दीठी ।
> चरन-कमल-रज मन वसी, सब धरम वहाई ;
> स्रवन, कथन, चिन्तन वढ्यौ, पावन जस गाई ।
> वेद, पुरान निरूप कैं ; रस लियौ निचोई ,
> पान करत आँनद भयौ, डार्‌यौ सब धोई ।
> "परमानंद" विचारि कैं, परमारथ-साध्यौ ;
> रामकृष्ण-पद प्रेम सौं, लालच-रस बाध्यौ ।

—और इसके सरसरस को तो रसिक उपासक ही जानते हैं। शुक—उच्छिष्ट* इस परम आनंदरूप सेवा, सक्कर से भी ज्यादह मीठी है। भला मुक्ति बेचारी की इसके आगे क्या औकात ! यह तो श्रुति-स्मृति और पुराणादि की पावन भट्टी से निचोयी हुई वह अनुपम मदिरा है—इस दो अक्षर के "कृष्ण" नाम में वह जादू है कि, सिर चढ़के बोलता है। घरबार की, तनबदन की, सारी सुधि भुला देता है—बावला बना देता है। यथा—

> कृष्ण-नाम जब तैं स्रवन सुन्यौं री आली !
> भूली री भवन मैं तौ बावरी भई री ;

* लोक में प्रसिद्ध है कि—तोते का जूठा फल बड़ा मधुर अर्थात् मीठा होता है।

भरि-भरि आवै नैन, चितहू न परै चैंन,
मुख हू न आवै वैंन, तन की दसा कछु और भई री।
जेतक नैम, धरम किए री मैं वहु विधि—
अंग अंग भई हौं तौ स्रवन मई री।
"नंददास" जाके स्रवन सुनति ऐसी गति,
माधुरी मूरति कैधौं कैसी दई री।

सचमुच, आपका चारु चरित्र एक बला है—दुसाध्य रोग है। यह मर्ज ला इलाज है, अस्तु—

"सहते ही बनै, कहते न बनै, मन ही मन पीर पिरैबौ करै"
—बोधा

इस राज-रोग को तो सहते ही बनता है। मन की पीड़क पीर के—दर्दे-दिल के, मजे मन ही मन लूटते ही बनते है। लेकिन आह, कहते नही बनते।

उफ! यह व्याधि—यह वावलापन कैसा सुखद है, कैसा आनंद दायक है, कि मुक्ति को ठुकरा कर इसे अनावश्यक समझ, वाधक समझ, उस ललित-लज्जत के लिये ही वार-बार पाने की यह प्रार्थना करता है कि—

विधिता! विधि हू न जानी;
सुन्दर वदन पान करिवे कौ, रोंम रोंम—
प्रति नैंन न दीने, करी यह वात अयानी।
स्रवन सकल वपु होते री मेरैं, सुनती—
पिय-मुख अमृत सी मधुर वानी;
भुजा होतीं कोटि कोटि तौ हौं भेंटती—
"गोविंद" प्रभु सौं, तोऊ न तपन बुझानी।

वाह, क्या कमनीय कामना है! कितनी सरस अभिलाषा है!

उफ...विधाता ! तूने इतना भी न जाना, तेरी समझ में इतना भी न आया, कि इस कलेजे में रखने काबिल अनुपम रूप-माधुरी को निरखने के निमित्त, दोही नेत्र दिये ? प्रियतम के मुख—सुधा से अभिषिञ्चित् मधुर सुशब्दावली को सुनने के लिये दोही कान दिये, और उसे आलिंगन करने को—हृदय से लगाने को, दोही भुजा बख्शी ? क्या अक्ल बिगड़ गयी थी अक्ल, नहीं तो—

"प्रति लोमन लोचन क्यों न दए"

—कोई कवि

मुक्ति-मुक्ति चिल्लाने वालो ! कहो-कहो, यह लज्जतदार मजे, निराकार से नियुक्त मुक्ति मे हैं ? रूप माधुरी के चखने का—निरखने का कहीं ठिकाना है ! बताओ, बताओ ! इसलिये ही तो प्रेम-दिवाने मुक्ति की चर्चा चलाने में चुप हैं, और फिर—भक्त तो सदा ही संसार से विमुक्त है, फिर क्यों वे मुक्ति की इच्छा करने लगे !*

उर अनुराग, रसिक-आँखो विच, बर गोरी-छवि छाजै ;
घनश्यामल मिलि अजब त्रिवेणी-वेणी तिलक बिराजै ।
गुप्त कुसल आशिकदाँ दम-दम, "सहचरिशरण" समाजै ;
बिमल-विनोद विलोकि जिनो को, मुक्ति-मौज मन लाजै ।

---

* त्वयि जनार्दन भक्तिरचञ्चला,
यदि भवेदफलप्रवणा ममः,
अभिलाषान्यपवर्गपराङ्मुखः,
पुनरपीह शरीरपरिग्रहम् ।

—आनन्दवर्धन

अर्थात् हे जनार्दन ! यदि आपके चरण कमल में मेरी कामना रहित भक्ति हो तो, मैं मुक्ति का परित्याग कर पुनः शरीर ग्रहण करने की उत्कट अभिलाषा करता हूँ।

अस्तु—

अब तकरार करौ जिन यारौ! लगी लगन चितचंगी,
जीवन-प्राण जुगल जोरी के, जगत जाहिरा अंगी।
मतलब नहीं फिरश्तों से हम, इश्क-दिलाँ दे संगी,
"सहचरिशरण" रसिक सुलताँवर महिरबान रस-रंगी।
—सरस-मंजावली

इसी से तो कहते है कि—रक्त, विरक्त से अनुरक्त का आसन ऊँचा है,—इनका सिंहासन सर्वोपरि है और ठीक भी है, क्योंकि-अनुरागी के अलावा "भगवान" से और कौन बातें कर सकता है, उन्हे टेढ़ीमेढ़ी बातो से छका सकता है, अस्तु "हित हरिवंश जी" कहते है कि—

प्रीति की रीति रँगीलौ ही जानैं ;
जद्यपि सकल लोक-चूरामनि, दीन अपनपौ मानैं।
जमुना-पुलिन निकुंज-भवन मै, मॉन मॉननी ठानैं ;
निकट नवीन कोटि कामिन-कुल, धीरज मनहिं न आनैं।
नस्वर देह, चपल मधुकर ज्यौं, आँन आँन सो बानैं,
"(जै श्री) हित हरिवंस" चतुर सोइ, लालहि, छाँड़ि मैंड़ पहिचानैं।

प्रीति की रीति को रँगीले ही जानते है—प्रेमी ही पहिचानते हैं। प्रेमी, प्रीति को प्राण से ज्यादह समझ कर उसे त्यागने की कभी भी धृष्टता नही करता अपितु हृदय से हमेशा चिमटाये रहने की आकांक्षा रखता है। उफ, न मालूम इन तीन अक्षर—संयुक्त "प्रीति" का क्या प्रभाव है कि तीन लोक-पति भी जिसके वशीभूत हो नाना भॉति से नाचा करता है। ये प्रीति के मनोहर अक्षर सृष्टि के आरंभ मे किधर उलझ रहे थे, मालूम नही? ओह! रात्रि के रुचिर समय भी प्रीति-रूपी-प्रेयसी विचित्रता से उपस्थित होती

है और प्रभात के समय, जब कि निर्मल बयार बह रही हो, निर्जन नदी के तट से ऊषा का स्निग्ध-शान्त रूप रपट रहा हो, अपनी मधुर मंद मुसिक्यान के साथ सामने, मन्थरगति से सन्मुख समुपस्थित हो जाती है। जिसे देखकर प्राणीमात्र श्रद्धा और संभ्रम के साथ नतमस्तक हो, उसकी मधुरता का आस्वादन करता रहता है। जैसे कि—

राते प्रेयसीर रूपे धरि,
तुमि एसेछो प्राणेश्वरि।
प्राते कखन देवीर वेशे,
तुम समुखे उदिले होसे।

—चंडीदास

आह! प्रीतियुक्त भाव, प्रेम का प्रबल प्रभाव, कैसा अद्भुत है—कितना विस्तृत है, कि सारे जगत को, विश्व को, उस मय ही देखता है, प्रथकता का आभास रहता ही नहीं जैसे—

जित देखौ तित स्याम मई है,
स्याम कुंज बन, जमुना स्यामा, स्याम गगन घन घटा छई है।
सब रंगन मैं स्याम भरौ है, लोगु कहत यह बात नई है,
हौं बौरी, के लोगन ही की, स्याम-पुतरिया बदल गई है।*
चन्द्र सार, रबि सार स्याम है, मृगमदसार काम बिजई है;
नीलकंठ कौ कंठ स्याम है, मनहुँ स्यामता बेलि बई है।

* "हौं बौरी, के लोगन ही की." पर बिहारी का एक दोहा याद आ गया है, देखिये न कितना सुन्दर है। यथा—

हौं ही बौरी बिरह-बस, कै बौरौ सबु गाउँ,
कहा जानि ए कहत हैं, ससिहिं सीतकर-नाउँ।

स्तुति को अच्छर स्याम देखियतु, दीप-सिखा-पद स्याम तई है ;
नर, देवन की कौन कथा है, अलखब्रह्म-छवि स्याम मई है। *

प्रेम का यह कोमलतन्तु, इश्क का यह नाजुक धागा, कितना विलक्षण होता है, कितना मजबूत होता है, वाह ! इस अदृश्य रज्जु की करामात तो देखो—

नद-सदन गुरुजन की भीर, तामैं
मोहन-मुख नीकैं देखि न पाऊँ,
विनु देखैं रह्यौ न जाइ, जिय अकुलाइ,
दुख पाइ, जदपि वड़रे-छिन उठि धाऊँ।
लै चलि री सखी ! मोहि जमुनातीर, जहाँ—
ह्वैहै वलबीर, देखि-देखि दृगन सिराऊँ,
"नंददास" प्यासे कौ पानी पिवाइ, लै जिवाइ,
जिय की जानति तू, तोसौं कहाँ लगि दुराऊँ।

इस जीवन मे अनन्त दुख है, पर मर्मान्तक दुख है प्रिय का अदर्शन ! जिसे देखकर हृदय आल्हादित हो, उसे अच्छी तरह न देख पाना, निराशा की कितनी लोल लहरियाँ है ? फिर जिय में अकुलाहट क्यों न हो ? चपल चित्त मे देखने की चंचलता क्यों न हो ? लेकिन वावली ! प्रेम-साम्राज्य मे लोक-लज्जा, गुरुजन-अवज्ञा का कुछ दखल नही—उनकी कुछ गुंजाइश नही। यहाँ तो—

स्याम के मैं अंग लगौंगी, कलंक लगै तौ लगै,
सुनियो री मेरी पार-परौसिन ! घर सास झगै तौ झगै।

* वैर वढे तैं वढै अति ही, अव को कहि कैं कढि कौन सौं जूझै,
जैसी भई हरि-हेरति ही, सुनै को हिय की, जिय की गति वूझै।
वाहर हू, घरहू मैं सखो! अँखियाँनु वढै छवि आँनि अरूझै,
साँवरौ-रंग रह्यौ उर मैं, मिगरौ जग साँवरौ, साँवरौ ही मूझै।

लोकहु की कुलकाँनि जाइ क्यौं न, लाज भगै तौ भगै ;
"आनँदघन" पिय उघर-मिलौगी, सिर तोप दगै तौ दगै ।

अथवा—

जब तै दरसे मनमोहनजू, तब तै अँखियाँ ए लगी सो लगी ;
कुल काँनि गई सखी ! वाई घरी, जब प्रेम के फंद पगी सो पगी ।
कवि "ठाकुर" नेह के नेजन की, उर मै अनी आँनि खगी सो खगी ,
तुम गाँवरे नाँवरे कोऊ धरौ, हम साँवरे-रंग रँगी सो रँगी ।

अस्तु, एक दिन कुछ ऐसे ही पावन प्रेम मे प्लावित अर्थात् रँगी हुई एक रँगीली गोप-बाला ने श्रीमान् को ऐसा छकाया कि शर्मिन्दा होना ही पड़ा । याद है न साहब ! न हो तो पुनः सुन लीजिये ! देखिये वह क्या कहती है कि—

सूकर ह्वै कब रास रच्यौ, वरु वामन ह्वै कब गोपी नचाई ;

और—

मीन ह्वै कौन के चीर हरे, तिमि कच्छप ह्वै कब बैनु बजाई ।

एवं—

ह्वै कैं नृसिंघ कहौ हरि जू ! तुम कौन की छातिन रेखु लगाई ;

अस्तु—

वृषभानु-सुता प्रगटी जब तैं, तब तै तुम केलि कला-निधि पाई ।

—कोई कवि

—हाँ, तो बतलाइये न सरकार ! कि क्या सूकर होकर यानी सूकरावतार मे रास रचा था ? क्या बामन बनकर गोपियाँ नचाई थी ? और कहो-कहो मीन होकर किसके चीर चुराये थे ? तथा कच्छप की कमनीय कृति में भी कभी वेणु बजाई थी ? इसी तरह बतलाइये कि श्रीमान् ने नृसिंह के चोले से किस की छाती को उन बड़े-बड़े नाखूनों से नख-क्षत द्वारा सुन्दर रेख लगायी थी ? अजी

हजरत ! यह सारी केलि-कला की विविध-विधि श्रीवृषभानु-सुता के प्रगटने पर ही पाई है। अन्यथा और अपर अवतारों में ऐसी रहस-केलियाँ कहाँ थी ? अपने मुँह मियाँ-मिट्ठू भले ही बन लो।

मोंहन ! रस ना आवतो, नैंकु सरद के रास ;
होती कहुँ वृषभानु की, जो न राधिका पास।
—रसनिधि

बिलाशक ! बगैर उस्ताद के—गुरु के, अभाव में कौन किस विद्या मे पारंगत हुआ है ? कौन हुनरो में दक्ष हुआ है ? कोई नहीं। अस्तु, यह सारी कारगुजारी, सिर से पाँव तक सम्पूर्ण कमनीय करामात तो हमारी "श्री प्यारी जी" की ही है। जैसे—

पियकौं नाँचन सिखवति प्यारी।
वृन्दावन में रास रच्यौ है, सरद इन्दु-उजियारी।
मान-गुमान-लकुट लएँ ठाड़ी, डरपत कुंज-बिहारी,
"व्यास" स्वामिनी की छबि निरखत, हँसि हँसि दै करतारी।

और तो और, अरे ! इस "विष-भरी बाँसुरी" का बजाना भी किसने सिखाया ? इस गुमान-भरी के सप्त-स्वरूपी छिद्रों पर अँगुली के बहाने चरण-पलोटना किसने सिखाया ? यह भी तो हमारी ही प्यारी का प्रताप है—उन्ही की सुशिक्षा का सुमधुर फल है। बकौल "श्री कृष्णदास जी" के कि—

सिखवति हरि कौं मुरली बजावन ;
सप्तरंध्र पै धरनि अँगुरि-दल, कंध बाहु धरि मधुरैं गावन।
सरस भेद, जति, राग कान्हरौ, गति बिलास, बर नैंनि नचावन ;
"कृष्णदास" बलि-बलि बैभव की, गिरिधर पिय-प्यारी मनभावन।

कौन सी मुरली ? वही, वही ! जिसके लिये "ग्वाल कवि" अधीर हो किसी गोपिका द्वारा पुछवाते हैं कि—

और बिष जेते, तेते प्रान के हरैया होत,

पर—

बंसी के कढ़े की कभू आइ ना लहर है;

क्योंकि—

सुनति ही रौंम रौम रीझि जाइ एरी दैया!

और—

जौम जारि डारै, पारै बेकली गहर है।

अस्तु—

"ग्वाल" कवि तोसौं लाल! जोरि कर पूँछति हौं,

साँचु कहि दीजै जो पै मो पै महर है;

हाँ-हाँ बताओ कि—

बाँस मैं, कि बेध मै, कि फूँक मै, कि होठ मैं, कि-

आँगुरी की दाब मै, कि धुनि मैं जहर है।

अथवा—

कान्ह! तैनैं कामरू की करामात सीखी कब;

कब सौं जगाई जोरि जंत्रन की जोति है;

कौन कंदरा मै बैठि करै करतूत-कला,

कौन से परब! सिद्ध कियौ मंत्र-गोति है।

"ग्वाल" कवि गोपिन के मन खैंचिबे के लिएँ,

बंसी एक नाली ताकी हरत उदोत है;

दस-नाली थभन कौ, उचाटिबे कौ सत-नाली,

मोहिबे कौ अजब हजार नाली होत है।

हाँ तो सरकार! यह सब, उस "परमधन श्रीराधे नाम" का ही आधारभूत क्रिया का सुफल है, जिसे कि "विष-भरी वंशी मे" मधुरता लाने के निमित्त बार-बार गाया करते हो और जिसे श्री

"शुक" ने सारे वेद, उपनिषद् के साथ यंत्र, मंत्र और तन्त्र का तथ्य रूप तार अथवा सार ही नही सार का सार समझ कर, अपने मुख से प्रगट नहीं किया। इसी तरह आपने कोटि जन्म धारण करके जिसका पार न पाया, यह सब उसी का प्रताप है। आपकी कमनीय करामात का नहीं। अस्तु—

परम धन राधे-नाम अधार,
जाहि स्याम,मुरली मैं टेरत, सुमरत बारंबार।
जंत्र, मंत्र औ वेद, तन्त्र मैं, सबै तार कौ तार,
श्री सुक प्रगट कियौ नहि तातै, जानि सार कौ सार।
कोटन रूप धरे नँद-नंदन, तऊ न पायौ पार,
"व्यासदास" अब प्रगट बखानत, डारि भार मैं भार।

अजी हजरत! जाने दीजिये इन बातों को और सुनिये कि व्रज मे जो तुम्हारी दयनीय दशा—

"गोपी प्रैम की धुजा"

—कर दिया करती थीं, उससे आप महरूम नहीं है, उसे आप शायद भूले भी न होंगे। जैसे कि—

※

देति करतार वे लाल गुपाल सौ,
पकरि व्रज-बाल कपि ज्यौ नचावैं।
कोऊ कहै ललन! पकरावौ मोहि पाँवरी,
कोऊ कहै बलि लाल! लाऔ वह पीढ़ी;
कोऊ कहै ललन! गहावौ मोहि सौहनी,
कोऊ कहै ललन! चढि जावौ सीढ़ी।
कोऊ कहै ललन! देखौ मोर कैसैं नचै,
कोऊ कहै ललन! भँवर कैसै गुजारै;

कोऊ कहै पौरि लगि दौरि आऔ प्यारे लाल !
रीझि-रीझि कोऊ मौतिन के हार वारें ।
जोई कछु कहत व्रज-वधू ! सोइ-सोइ,—
करत, तोतरे बैन बोलन सुहावै ।
रोइ परत वस्तु जब भारी न उठत तबै,
चूम चूम जननी मुख, उर सौं लगावै । —सूर

—और इन विपुल वारदातों की शऊर भरी शिकायतें आप मैया से भी कर चुके थे । जैसे कि—

"मैया मेरी कॉमर चोरि लई"
मैं वन जात चरावन गैयाँ, सूनी देखि गई (गही) ।
एकु कहै कान्हा ! तेरी कॉमर, जमुना मै जात वई (वही) ;
एकु कहै लाल ! तेरी कॉमर, सुरभी खाइ लई ।
एकु कहै नाचौं मेरे अँगना, दै हौं औरु नई ;
"सूरदास" जसुमति के आँगे, अँसुवन-धार वई (बही) ।

अथवा—

तेरी सौं, सुनि-सुनि री मैया !
इनके चरित कहाँ लगि वरनौं, बूझि देखि संकरषन भैया ।
ब्याई गाइ, बछरुवा चाटति, हो पीवत हो प्रात खन धैया ;
इनहि देखि धौरी बिझुकानी, मारन कौं दौरी मोहि गैया ।
द्वै सींगन के बीच पर्यौ मैं, तहँ रखवारौ कोउ न सहैया ;
तेरौ पुन्न सहाइ भयौ है, उबर्यौ बाबा-नंद-दुहैया ।
ए जो ऊखट परी हैं मो पै, भागि चली कहि दैया-दैया ;
"परमानद" स्वामी की मैया, उर लगाइ हँसि लेति बलैया ।

किन्तु सरकार ! इतने पर भी वे प्रेम-रँगीली-रमणियाँ जिस तरह नचाती थीं—जैसा काछ कछाना चाहती थीं, वैसा ही नाच-नाचते थे और वैसा ही काछ काछते थे ! वाह—

सेस, महेस, गनेस, दिनेस, सुरेसहु जाहि निरंतर ध्यावैं ;
जाहि अनन्त, अनादि, अखंड, अछेद, अभेद, सुबेद बतावै ।
नारद लौ सुक व्यास रटै, पचिहारे तऊ पुनि पार न पावै ;
ताहि अहीर की छोहरियाँ ! छछिया भरि छाछ पै नाँच नचावै ।

❀

गावैं गुनी गनिका, गंधर्ब औ सारद, सेस सवै गुन गावैं ;
नाम अनंत गनंत गनेस ज्यौं, ब्रह्म, त्रिलोचन पार न पावै ।
जोगी, जती, तपसी अरु सिद्ध, निरन्तर जाहि समाधि लगावै ;
ताहि अहीर की छोहरियाँ ! छछिया भरि छाछ पै नाँच नचावै ।

—रसखान

भैया ! आपकी इन मनमोहक अथवा मिठाई से भी मीठी-अहीरियों का चित्त चुराने वाला चित्र—लज्जतदार-तस्वीर, फोटो, कविवर "देव" ने बड़ी सुन्दरता के साथ खींचा है । देखिये न—

माखन सौ मन, दूध सौ जोबन, है दधि तै अधिकै उर ईठी ;
जा छबि आगै छपाकर छाछ, समेत सुधा बसुधा सब सीठी ।
नैननि नेह चुवै कवि "देव", बुझावति बैन बियोग-अँगीठी ;
ऐसी रसीली अहीरी अहे ? कहौ क्यौं न लगै मनमोहनैं मीठी ।

अर्थात्—जिस गरबीली ग्वालिन का—रसीली अहिरिन का, मन-मानिक मक्खन सा, नव यौवन दूध सा, जो कि दग्ध-हृदय को दधि से भी ज्यादह सुशीतल है, और जिसकी सरस शोभा के सामने शशि छाछ सा, संसार की सुधा-सहित सम्पूर्ण मीठी वस्तुएँ सीठी हैं, नेह चुचाते नेत्र तथा जिसके "बर-बैन बुझावति बियोग अँगीठी"—सी अंगना, भला मनमोहन ! आपको क्यो न मीठी लगेगी, और क्यो न उसकी "छछिया भर छाछ" पर छबीली अदा से, मनलुभावनी—भाँति से, उसके सन्मुख नाचेगे । क्योंकि—

या झीने-हित-तार मैं, बल ऐतौ अधिकाइ,
अखिल-लोक कौ ईस जो, जासौं बाँधौ जाइ।

—रसनिधि

अथवा—

प्रीति न काहू की काँनि विचारै,
मारग, अपमारग विथकित मन, को अनुसरति निवारै।
ज्यौं पावस-सरिता-जल उँमगति, सन्मुख सिंधु सिधारै;
ज्यौं नादहिं मन दऐं कुरगन, प्रगट पारधी मारै।
नाइक निपुन नवल मौहन विनु, कौंन अपनपौ हारै;
"(जैश्री) हित हरिवंस" हितग सारँग ज्यौं, सलभ सरीरहि जारै।

अस्तु, प्रेमियों की—स्नेहियों की गति, सचमुच अगम्य है। एकदम दुर्बोध है—

उमा दारु योषित की नॉईं, सबै नचावत राम गुसाँईं।

—तुलसीदास

—जो कि "दारु-योषित" की तरह, कठपुतलियों के सदृश समस्त संसार को, सम्पूर्ण सचराचर को, "लकड़ी के बल बन्दर" की तरह नाच नचा रहा है, आज वही गोपियो के पावन प्रेम के प्रभाव से प्रेरित होकर उनके आगे जरा सी—तनक सी अथवा "छछिया-भर छाछ" के लोभ से लुभाकर नाच रहा है, ता-ता थेई-थेई कह-कह कर बड़ी निपुणता के साथ थिरक रहा है।

नेति-नेति कहि निगम पुनि, जाहि सके नहिं जान;
नचत मनोहर छाछ हित, वही सो हरिहर आन।

—रसनिधि

कैसा अनोखा है यह प्रेम! इसकी मनोहर महिमा को कौन गा सकता है—कौन इसकी प्रभुता का पार पा सकता है। अस्तु—

प्रेम हरी कौ रूप है, त्यौ हरि प्रेम स्वरूप ;
एक होइ द्वै यौं लसै, ज्यौ सूरज औ धूप ।

—रसखान

अथवा—

नित्त बिचारनु जोग, रुचत उपदेस इही उर ;
परमेसुर मय प्रेम, प्रेममय नित परमेसुर ।

—सत्यनारायण

श्रीमान् ! इतना ही नहीं, ये आपकी अन्तःकरण-विहारिणी अहीरिनें, खरी-खरी सुनाने में भी नहीं चुकतीं थीं। अस्तु ये धीठनियें झट ही तो कह देती थी कि—

खेत न हार, न गाँव मढैया, कान्हर डोलत ऐंड़े ;
बाप देति कर कंस राइ कौ, पूत जगाती डोलत मैड़े ।
"चतुर्भुज" प्रभु गिरधरि हम जानति, चले जाहु किन पैड़े ;
अरी यह को है री ! याहि दान जु दै है, गोबरधन के ग्वैंड़े ।

क्यों साहब ! आपके न खेत है, न हर है, न गाँव है और न मड़ैया, लेकिन श्रीमान् तो ऐड़े ही ऐड़े डोलेगे ? बाप, राजा कंस का कर-दाता और पूत जगात की जलपना में ऐंठा जाता है। अतएव जाइये—जाइये, हम सब आपको, व आपकी करतूत को, जानते है। कौन हैं ये ? जो कि "गिरि-गोवर्धन के ग्वैंड़े"—रास्ते इनको दान दिया जाय ? वाह अच्छी रही !

कब चढ़े मेहरोवफ़ा के लफ़्ज़ उनके ज़ेहन पर ;
हाँ सबक़ जोरोज़फ़ा का, याद फर-फर हो गया ।

—गालिब

अस्तु नंद के लाड़िले ! ठहर, ठहर, रोज तू झगड़ता था आज मै ही तुझसे झगड़ा करूँगी—आज मैं ही तुझसे रार मोल

लूँगी। अरे हाँ, सवेरे-ही, सबरे मुझे रोककर खड़ी करली मानों मेरे घर में कुछ काम-काज ही नहीं है? वाह, खूब रही! अस्तु, तुम्हारे इन प्रिय सखाओं के देखते-देखते आज आपका सारा लाड़ उतार कर धरे देती हूँ; समझे साहब? जैसे कि—

अहो! तोसौं नंद-लाड़िले झगरौंगी;
मेरे सँग की दूरि जाति हैं, मटुकी पटकि कैं डगरौंगी।
भोरहिं ठाड़ी कित करी मोकौं, तुमरे जानि कछु काज न करौंगी;
तिहारे सग सखान के देखत, अब ही लाड़ उतार धरौंगी।
सूधै दान लेहु किन मोपै, औरु कहा कछु पाँइ परौंगी;
"नंददास" प्रभु कछु न रहैगी, जब बातन उघरौंगी।

अथवा—

अब तुम लै-लै गीधे हो दान, सौंह मोहि गोधन की गोपाल;
तनक मथनियाँ औंधि जो देखौ, कहा करौं तिहि काल।
और ग्वालि सी मोकौं जानत जू! हौ करिहौं तुम्है निहाल;
"रामदास" प्रभु जानि देहु अब, सो घर कैसें बचिहैं सु बन बजावत गाल।

अथवा—

कोऊ तेरौ हेरे, कहैया, सुनैया, कन्हैया!
दधि मेरौ खाइ मटुकिया फोरी, बरु प्रानन के लिवैया।
हार मेरौ तोर्यौ, कमल-कर मोर्यौ, फारी है उर की कँचुकिया;
"धौंधी" के प्रभु तुम बहु नाइक, जानैंगी सास ननँदिया।

क्यों जी, सुनते हो! यह क्या? तुम्हारा कोई कहने-सुनने वाला नहीं है, जो कि—"दधि" खाकर "मटुकिया" मेरी फोड़ दी वाह रे प्राणों के लिवैया, वाह! उर की कंचुकी को कुचल कर, और कमल सा कर मरोड़ कर, फिर हृदय के हार को तोड़ते हो? वाह बहुनायक! घर में "सास-ननदिया" जानेंगी तो न मालुम

श्रीमान के साथ-साथ मेरा भी क्या-क्या अहवाल न करेगी; लेकिन जान लो—

"हाँसी मैं हार हऱ्यौ "रसखानि जू", जो कहुँ नैकु तगा टुटि जैहै ·
एकुहि मौती के मोल लला! सगरे ब्रज हाट हि हाट बिकैहै।

❀

नागर छैलहि गोकुल मैं, मग रोकत संग सखा ढिग तैहै,
जाहि न ताहि दिखावति आँखि, सुकौन गई अब तोसौ करैहैं।
हाँसी मैं हार हऱ्यौ "रसखानि जू", जो कहुँ नैकु तगा टुटि जैहै;
एकुहि मौती के मोल लला! सगरे ब्रज-हाट हि हाट बिकैहै।

और सुनो—

दानी भए नित माँगत दान, सुनैं जो पै कंस तौ बाँधे न जैहौ;
रोकत हौ बन मै "रसखानि", पसारत हाथ घनौं दुख पैहौ।
टूटै छरा बछरादिक गोधन, जो धन है सु सबै धर दैहौ;
जैहै अभूषन जु काहू सखी कौ, तौ मोल छला के लला न बिकैहौ।

—अस्तु समझ लो लला! समझ लो! इसीलिए यह इत्तलानामा वा नोटिस, सादर स्वादर (पेश) किया जाता है कि—फिर कभी इस तरह दिन-दहाड़े डाकेजनी न किया करो! इस तरह फिर किसी को रास्ते चलते न लूटा करो! वरना सारी गिरहस्ती कुर्क हो जायगी और श्रीमान् को तो कोई "इक-छल्ले" के मोल भी तो न पूछेगा?

कोई न पूछेगा तो न पूछे! कोई नही खरीदेगा, न खरीदे! लेकिन भैया! यह तो बतलाओ कि—दान के बहाने किसी और बात की इच्छा तो नहीं है? जैसे कि "श्रीहरिराय" जी फर्माते है—

सूधे-बचन माँगिए हो.. ..., लालन! गोरस-दाँन;
मौहन भेद जनाइकै, कछु कहत आँन की आँन।

—और इस बात की ताईद "सुकवि रसखानजी" भी करते हुए किसी गोपी द्वारा कहलाते हैं—

छीर जो चाहत चीर गहैं, एजू ! लेहु न केतक छीर अचैहौ ;
चाखन के मिसि माँखन माँगति, खाहु न माँखन केतक खैहौ ।

लेकिन—

जानति हौ जिय की "रसखानि" सुकाहे कौं एतक बात बढैहौ ;
गोरस के मिसि जो रस चाँहत, सो रस लालजू ! नैंकु न पैहौ ।

और, कविवर बिहारीलाल जी भी कहते हैं कि—

लाज गहौ बे-काज कत, घेर रहे घर जाहिं ;
गो-रस चाँहत फिरत हौ, गोरस चाँहत नाहिं ।

अर्थात्—किसी गरबीली-ग्वालिन से श्री कृष्ण दान पाने की याचना कर रहे हैं, अथवा "बतरस"—बातों के सुरस में लगे हुए बार-बार माँग रहे हैं—झगड़ रहे हैं, इस पर गोपी कहती हैं कि, "तुम्हें लाज नही आती ? अकाज ही, बिला काम-काज के ही नॉहक घेर रहे हो—रोक रहे, चलो हटो ! घर जाने दो ! हाँ-हाँ समझ लिया आप गोरस नही चाहते अपितु गो-रस यानी इन्द्रियों का रस चाहते हो ? अस्तु—

"सो रस लाल जू ! नैंकु न पैहौ"

हॉ-हॉ लीजिये न, चीर गहकर कितना छीर चाहते हैं ? लीजिये-लीजिये ! और चखने के बहाने जो माँखन माँगते हो वह भी लो, जितना चाहिये उतना लो न ! लेकिन हे रस की खान ! गोरस के बहाने जो और रस की अभिलाषा इच्छित है उसके लिए ललन ! ललचाते ही रहो, वह नही मिलने का, नही मिलने का !

उल्फ़त जता के दोस्त को दुश्मन बना लिया ;
"बेखुद" तुम्हारी अक्ल के कुरबान जाइये ।

अथवा—

करके इजहार बेकली दिल की ,
बात खोदी, रही सही दिल की । —कोई शायर

भैया ! यह बात नही, यह खयाल गलत नही, कि किसी से दिल का लगाना बुरा है—किसी के प्रेम मे प्रयुत्य होना अनुचित है ? नहीं नहीं ! यह बात नही ! लाला ! बुरा तो—अनुचित तो मुहब्बत का, प्रेम का, जतलाना है, बतलाना है—

गलत है कि दिल का लगाना बुरा है ,
मुहब्बत का लेकिन जताना बुरा है।
—दाग

अजी सरकार ! उल्फत जतलाकर प्रेमिक को दुश्मन बनाना है—खुशामद की खूबी मे गर्क होकर, प्यारे की आदत को बिगाड़ना है ? जैसे कि—

खुशामद से बिगाड़ा आप हमने उसकी आदत को ,
बनाया अपना दुश्मन खुद जताकर अपनी उल्फ़त को ।
—नादिर

—इस लिये अब कृपया ऐसी मुहब्बत जतलाने के बहाने "नादिहन्दपना" न किया करो, नही तो सारी गिरहस्ती तो कुर्क होगी ही, ऊपर से श्रीमान् की फरोख्तगीरी मे खप्त हो—इक-छल्ले के एवज मे ही सही—कोई खरीदार खोजना पड़ेगा । एक बला से बचने के लिये दूसरी बला, मोल लेनी पड़ेगी । समझे साहब ! समझे न ..

लेकिन यार ! तुम्हारे खरीदने वाले खरीदार की कम्बख्ती ही समझो, क्योंकि जिस-जिस ने इन प्यारी-प्यारी मतंग सी मतवाली अँखियों से आँख मिलाई कि प्राणों के लाले पड़े ? जैसे कि—

मादर, पिदर, बिरादर, मादर, बिना काम के मानें;
सुख से गुजर होत, कै दुख से, दिल उनही का जानें।

अथवा—

कै जानें खुद बखुद पीर तू "सहचरि-शरण" बखानें;
क्या बलाय तेरे चश्मो में, आशिक किये दिवानें।

❀

तीखे नैंन कन्हाई! पल-पल खून करंदे,
भौंहै तो कमान तानी, पलकैं—तीर परंदे।
कित्ते घाइल परे कराहै, दिल नहीं धीर धरंदे;
"रसिक-बिहारी" नित वार करंदे, टारे नही टरंदे।

❀

जादूगर रे! थारे नैन,
भवाँ-कमाँन तान करि तैनैं, तिरछो मारी सैन।
लगी करेजे मैं बरछी सी, घाइल कीनी ऐंन;
"जुगल-बिहारी" के बिनु देखै, रचक परत न चैंन।

❀

नैंनौ की मारी री! कटारी,
सुनियो री मेरी पार-परौसिन, ढीट भयौ गिरिधारी।
सासु बुरी, घर नँनद हठीली, देबर सुनि देइ गारी,
"मधुर-अली" घर जात बनैना, पीर उठी अति भारी।

❀

कमल सी अँखियाँ लाल तिहारी,
तिन सौं तक-तक तीर चलाबत, बेधत छतियाँ आँन हमारी।
इन्हैं कहा कोउ दोष लगावत, ए अजहुँ न सँभारी;
"श्री बिट्ठल" गिरधारि-कृपा-निधि, सूरत ही सुखकारी।

❀

मोहन के अति नैन नुकीले,
निकरैं जाइ पार हियरा के, निरखत निपट गँसीले।
ना जानौ बेधन अनियनु की, तीन लोक तै न्यारी;
ज्यौं-ज्यौं छिदति मिठाति हिए मैं, सुख लागत सुकुमारी।
जब सौं जमुना कूल बिलोक्यौ, तब सौ नीद न आवै;
उठति मरोर बंक चितवनियाँ, उर उतपात मचावै।
आग लगौ इहि लाज निगोड़ी, दृग भरि स्याम निहारौ,
'ललित-किसोरी' आजु मिलैं तौ, सब कुल-कानि बिसारौ।

❀

ए-अँखियाँ, प्यारे! जुलम करै,
ए मरहैटी, लाज लपेटी, झुकि-झुकि घूमैं झूमि परैं।
नगधर प्यारे! होहु न न्यारे, हा-हा तोसौं कोटि ररै,
"राजसिंघ" कौ स्वामी नगधर, बिनु देखै दिन कठिन हरै।

❀

नागरी! नागर के नैन अनियारे,
अति अनूप निज रूप निहारे, परम प्रान-प्रिय प्रीतम प्यारे।
भृकुटि मरोरत गूढ़ भाव सौं, डोरा कोर प्रैम-फँदवारे,
अरुन-बरन पैंने रस-भीने, चिकने ललित प्रीति-प्रन पारे।
पलक-ललक मनु अलिन नलिन ए, प्रात मुदित, हित पंख पसारे,
अंजन अमिल रेख ईषद लसि, वसि नागिन मनु खजन गारे।*

❀ खंजन की खूबी से खचित प्यारे की रसीली आँखों का वर्णन "शीतलजी" से भी सुनने लायक है। यथा—

जुग पलक झलक सो जाल-रंध्र, बरुनी रेशम के जाले से;
चित-चोर तरल, तीखी चितवन, सो अंकुश वलित सभाले से।
दृग-चाह डोर की लहर लगी, नेही खग-पति का डाले से;
मुख शशी पींजरे में लाये, दृग तीक्ष्ण खंजन पाले से।

चंचल कमल ललित परफुल्लित, अद्भुत-गति निरखत रस-भारे।
"श्रीभट" सुरत-समर में कोविद, सुरत न नैकु सँवारे।

जनाब! सिर्फ आपकी इन नुकीले नैनो के शिकवे का शोर ही नहीं है; अपितु श्रीमान् के अंग-प्रत्यंगों ने भी कुछ कम ऊधम नहीं उठा रक्खा? अजी! जिसने जिस ओर देख लिया, बस, कहर मच गया—जी तड़प कर वहीं रह गया। जैसे—

कोटि काम लावन्य, अंग सुख-दैन जु हित के;
जे तित दौरे परे, ते भए तित ही तित के।

अथवा—

जो अलकन-छवि उरझे, ते अजहूँ नहि सुरझे;
ललित लसै सिर पाग, तकै तक तहँ-तहँ ही मुरझे।

देखिये आपकी "जुल्फ" ज़हर की ज्वाला से दग्ध "सहचरी शरण" जी क्या कहते हैं। यथा—

नहि उतरेगा "मैर" उतारें नित-प्रति अधिक भरेंगी,
लहिरावत अति बाँकी एतौ, मंत्रादिक न चरेंगी।
निरखत कहा तोहिं डसि है जब सुधि-बुधि सकल हरेंगी,
रसिक "सहचरी-शरण" नागिनें जुल्फें जुल्म करेंगी।

—और इस पर शीतल जी का शोर भी सुनने लायक है। जैसे कि—

अथवा—

गुणवारे अरुण जाल-डोरे, दृग भरे हुए वेपीरी के;
पंकज पर दिनकर की किरणें, छींटे मनमथ की बीरी के।
कै हैं गुलाब में उदै हुए, अंकुर केसर-कश्मीरी के;
खंजन के गल में पड़े हुए गुच्छे-दाडिम-दल चीरी के।

कारी, सटकारी लहरदार, दिल देखत लगदीं अच्छी हैं,
दिया तेल, फुलेल, अतर आला, खुशबोई दे बिच मची हैं।
ये निकसे औन-बाँवई से, उपमा सब इनकी कच्ची हैं,
जुल्फ़ें इस "लाल बिहारी" की, क्या सिर्फ नागदी-बच्ची हैं।

❀

कारी, सटकारी लहरदार, छबिदार अतर से पाली हैं,
मखतूल, नीलमणि, चंचरीक, उपमा के जी मैं साली हैं।
कर साफ अतर से मुखड़े पर, बेतरह पेचवाँ टाली हैं,
इस "लाल-बिहारी" की जुल्फें, मत छेड़ नागिनी काली है।

❀

वँबई कानो से कढ़ी हुई, देखत ही चित मे पेठी हैं,
मोती से निकली उरझ रहीं, चुन्नी ले मुख में ऐंठी हैं।
नीलम के तार सिवार किधौं, छवि चंचरीक की भैंठी हैं,
जुल्फें इस "लाल-बिहारी" की, मणिदार नागिनी बैठी हैं।

❀

मखतूल, नीलमणि, चंचरीक, सब की उपमा को पेलें हैं,
मुख शरद-चंद्र से लगी हुईं, क्या सम्बुल की सी बेलें हैं।
लहराती हुईं नज़र आईं, दिल में ज़हरों की रेलें हैं,
रुख़सार हेम के थालों पर, दो चढी नागिनी खेलें हैं।

अस्तु—

लट-घुँघरारी निरखि, सु मोंहन भेंट भए है,
दोऊ दगन-छवि गिनत, गिनावत ही जुर रए है।

❀

कोऊ लखि ललित-कपोलन, मधुरी-बोलन अटके,
परे ज्यौं मद-गज चहले, दहले फेरि न मटके।

❀

कोउ जु रहे चकचौंधि, रुचिर पीताम्बर छवि पर,
मनौ छबीली छटा, थिरकि रही सुन्दर घन पर।

पीताम्बर की फबीली-फबन पर बिहारीलाल जी की भी एक अनुपम-उक्ति है, यथा—

सोहत ओढ़ै पीत-पट, स्याम सलौने-गात,
मनौं नील-मनि सैल पर, आतप पर्‌यौ प्रभात।

अतः—

कोऊ इक नैननि अटकि गए, ह्वै लोभ-लुभारे,
भरे-भवन के चोर भए, बदलत ही हारे।

❀

कोऊ जु रुचिर चरनारबिंद मकरंद सुहाए,
चंप-माल सिसुपाल परसि अलि बहुरन आए।

— रुक्मिणीमंगल

अथवा—

कोई आँखो ने मार लिया, उसको नरगिसी बखानी है,
कोई जुल्फो के पेच तले, नागिन की कहे कहानी है।
कोई हँसने के बीच बिका, झमकानि रूप सुखदानी है,
आखिर को निश्चय हुवा नहीं, तेरा सा तूही जानी है।

— आनन्द-चमन

—और मोहन ! ❀ आपकी मंद-मधुर-मुसिक्यान ने जो कुहराम मचाया—इसकी निराली अदा ने, जो उत्पात उठाया ? उसकी हृदय-हारी, हकीकत भी सुन लीजिये। जैसे कि—

❀ मोहन शब्द की व्युत्पत्ति पर "रस-निधिजी" ने बडा गजब ढाया है। यथा—

मोहन तेरे नाम कौ, लखौ वा दिना छोर,
ब्रज-वासिन कौं मोहि जब, चले मधुपुरी-ओर।

लखी जिनि लाल की मुसिक्याँन ;
तिनहिं बिसरी वेद-विधि, जप, जोग, संजम, ध्यान ।
नैम, व्रत, आचार, पूजा, पाठ, गीता-ग्यान ;
"रसिक-भगवत" द्दग दई असि, ऐंचिकैं मुख-म्यान ।

अर्थात्—जिसने यह मंद-मंद मधुर मुसकान लखी फिर क्या वह किसी काम का रहा ? वेद-विहित जप, तप, संयम, जोग, नेम, व्रत, आचार, पूजा, पाठ वगैरह कही मुख-म्यान से निकली तलवार रूप मुसकान के सामने ठहर सकते है ?

कहते हैं जिसको ब्रह्म-तत्व, अरु अज अनीह अविनाशी है ,
तीनों गुण, पाँचौ तत्व परे सब विश्वरूप का बासी है ।
सुनि लाल-बिहारी ललित-ललन ! यह बात चित्त मे भासी है ।
मुख-शरदचन्द्र विश्वेस्वर सा, जानी बिहँसन ही काशी है ।

—आनन्द-चमन

मोहन की मधुर मुसकान पर "युगल-सखी" की तिलस्माती रचना भी सुन लीजिये । यथा—

मोहन-मुसिक्यान लगै सोई जानैं ;
ठाडी हुती मैं अपनी पौर मैं, औचक निकस्यौ आन ,
हेरन, हँसन, माधुरी लागे, मनमथ जैसौ बान ।
—सखी कोई घाव न जानै ।
घाइल भई मृगी ज्यौं डोलौं, परी भूमि पै आन ,
जन्त्र मंत्र औषधि ल्यावौ कोइ, भूल्यौ सबहि अपान ।
—करौ कोई जतन सयानैं ॥
छूटि रही अलकैं घुँवराली, कुंडल झलकत कान ,
जानत है वे पीर हमारी, "जुगल-सखी" के प्रान ।
—कहौ कोऊ भेद न जानैं ॥

अस्तु, मोरे भैया ! इस दरो-दीवार को लुभाने वाले* रूप रहचटे † की रहनुमाई के साथ बे-लगाम से न डोला करो, इस तरह गली-गलियारे न घूमा करो—पैंडा रोक कर खड़े न हुवा करो, क्योंकि यह सकरा मार्ग—रास्ता, गरीबनी ग्वालिनों के आने-जाने का है। वह आपके इस मनलुभावन रूप-रखवालिया के सामने न आकर दूर ही से डरती हुई कहतीं हैं कि—

ए, तुम पैड़ौई रोकैं रहत, कैसैं कै आवैं जाँइ ब्रज-बधू,
तुमही विचारि देखौ, परम सुजान।
खिरक-दुहावन दिन चढ़ि आयौ चहैं,
ऐसैं कैसैं बनैं गुसाँई ! इत-उत गेहवर गैल हू न आँन।
ऐसी अटपटी कित गहौ जू लाड़िले कुँवर-वर !
जो कबहूँ परि है ब्रज-राज काँन;
"गोविंद" प्रभु प्यारी की सखि? तुम धौं नैंकु—
इत उतरौ हमहिं देहु जाँन।

—प्यारे ! उतर आइये न, और हमें जाने दीजिये न, क्योंकि दोनो तरफ गहवर-बन के कारण दूसरा रास्ता भी नहीं है, और आप टलने का नाम ही नहीं लेते, भला यह भी कोई भलमनसाहत

* मृदु-पद-पकज गुल्फ अनूपम, अलफ लंक रसना की,
उर भुज-दंड, बसन, भूषन, तन, चिबुक-चमक चहुँघा की।
भृकुटि-कमा सुखमा सुमुखादिक, दृग बादाम जुमा की;
"दर-दिवार" मुस्ताक हुए सखि ! अय किशोर लखि झाँकी।
—सहचरिशरण

† कन देवौ सौंप्यौ ससुर, बहू थुर-हथी जाँन,
"रूप-रहचटै" लग लग्यौ, माँगन सब जग आँन।
—बिहारी

है ? अस्तु, हटिये, हटिये ! अटपटी बाँन छोड़िये ! यदि कहीं व्रजरायजी के कान यह अनोखे हठीलेपन की हकीकत पड़ जायगी तो बस जान लो ? अतः—

हम तो आशिक हैं तेरे, नाज उठाने वाले ;
तुमसे कब देखे हैं, महबूब सताने वाले।
बन्द कर क़ैदे—मोहब्बत मे खबर मेरी न ली ;
दाम मे जिसके फँसे, दाम-छुड़ाने वाले। —नज़ीर

प्यारे नटवर ! आपके अब यह चपल चोचले और अधिक दिन न चलेंगे, क्योंकि—काफी कलई खुल चुकी है, विशेष पर्दा-फाँस हो चुका है—"उतरा सहना, मर्दक नाम" * निनादित हो चुका है, इस लिये अब और अधिक आपकी काली कर्तूतवाली काली-कलूटी काठ की हाँड़ी न चढ़ सकेगी ? बकौल "वृन्द जी" के कि—

फेर न ह्वै है कपट सौं, जो कीजै ब्यौहार ,
जैसैं हाँड़ी काठ की, चढै न दूजी बार ।

आनकदुन्दुभी ! जब आप, बाप—वसुदेव के सिर चढ़कर मथुरा से व्रज पधारे थे, तब ही लोग बागों ने ताड़ लिया था कि यह सिर

* तिय-तन झलक्यौ जोबन भूप, चल्यौ चहँत सिसुताई-रूप ,
कहैं पखानौं जो बुधि-धाम, उतरयौ सहना मर्दक-नाम ।
—लोकोक्ति-रस-कौमुदी

अथवा—

सदाँ न निभै कपट ब्यौहार, कछु दिन जदपि लुभत संसार ;
भेद-खुलत निन्दा सब ठाँव, "उतरा-सहना, मर्दक नाँव" ।
—लोकोक्ति-कोष

चढ़ा लड़का अधिक चालाक और चंट होगा, निहायत "फरेबी" होगा—बड़ा चोचलेबाज होगा, सो सब सामने आ गया ! यद्यपि आपने अपने दर्शनीय दोषों को बड़ी दूरन्देशी के साथ हमेशा ही चालाकी से छिपाया, पर वे न छिपे ! न छिपे ! अस्तु—

"उज़्रे-गुनाह बदतर अज़-गुनाह"

—लोकोक्ति-कोष

अर्थात्, गुनाह (दोष) को छिपाना गुनाह करने से बदतर—दोष करने से ज्यादह है, पर आप अपनी मनभावनी बेजा हरकतों से बाज क्यो आने लगे ? लेकिन प्यारे नटखट ! ये आपके अंगीकृत किये "जन" भी तो कुछ कम चालाक और चंट नहीं है। एक ही थैली के चट्टे-बट्टे ※ से हैं। हाँ-हाँ हज़रत ! आप डाल-डाल और ये पात-पात † वाला मामला सा सठा-गँठा है !

पारसा बन के "रियाज़", आये है मैखाने मैं,
उफ़......बैठे हैं, बचाये हुए दामन कैसा।

※ जान जाये हाथ से जाये न सत,
है यही बात एक, हर मजहब का तत।
"चट्टे-बट्टे एक ही थैली के हैं"
साहूकारी, बिस्वेदारी, सल्तनत।

—इकबाल

† हौं नीकैं जानत री आली ! तेरे हिए की बात,
सकल घोष-जुवतिन कौ सरवसु, तैं ही हर्यौ री अरी ! साँवरे गात।
जाकौ कारज करत विधाता, ताहि न काहू की परवाह, कोहू करौरी पाँच-सात ;
"गोबिंद" प्रभु-निधि नींकौ-धन पायो औ छिपायौ, मोसौं कित दुरत हैं री—
"जो तू डार डार, तो हौं हू पात-पात।"

—अस्तु, हाँ तो फिर आपही कह दो न कि श्रीमान् की कौन-कौन सी चाल छिपी रही—किस-किसकी बेपर्दगी नही हुई ! हाँ-हाँ बतलाइये न, कि किस-किसका राज नही खुला ! सर्वस्व धन ! सुनने में आया है कि आप माँखन व दही की चोरी मे पूरे "एक्सपर्ट" थे, कुशल थे—गो यकता थे, पर "बेदाग" इसमें भी न बच सके ! चालाकी और चंटपने में चाहे लाख यकता रहे हो, पर यहाँ वह एक भी काम न आ सकी । अरे, यहाँ तक कि इस विद्या के अपूर्व आचार्य्य होते हुए भी—पकड़े गये, बाँधे गये और न जाने क्या-क्या किये गये । कौन-कौन सी कुगति श्रीमान् की नही हुई ? बतलाइये न, आपकी इस गुनन गरूरली एवं—

"गुण-गण गरिमा गरीयसी"

—सी गुणावली की गाथा को "श्री सूर" ने बड़े ही शरूर भरे शब्दों मे गायी है। देखिये न, जैसे—

"करत हरि ग्वालन-संग विचार,"
चोरी माँखन खाहु सबै मिलि, करिऐ बाल-विहार ।

अर्थात्—एक दफे आपने अपने परम प्रिय ग्वाल-बालो की "वर्किंग-कमेटी" के प्रमुख-आसन से सब के सामने, श्रीमान ने यह "रेगुलेशन" रखा कि—

चोरी-माँखन खाहु सबै मिलि, करिऐ बाल-विहार ।

—अस्तु भैया ! सुनते है कि आधुनिक युग की सभा-सुसायटियों मे सभापति के प्रस्ताव पर—मजलिसे-मीर के मुख़ालिफ़, कोई उज्र उपस्थित नहीं किया जाता ? अत:—

यह सुनत सब सखा हरखे, कहत जु भली कन्हाई ;
हँसि-हँसि देति परसपर तारी, सौंह करी नँदराई ।

—की तरह हिप्-हिप् हुर्रे, हिप्-हिप् हुर्रे अथवा धन्यवाद-धन्यवाद के अनन्त निनाद में सब आपकी इस सूझ-बूझ की विपुल बड़ाई करते हुए कहने लगे कि—

पाई कहाँ बुद्धि तुम इतनी, स्याम चतुर सुजान ;
"सूर" प्रभु मिलि ग्वाल बालहि, करति है अनुमान ।

उक्त प्रस्ताव, पास होने के उपरान्त तुरंत ही कार्यरूप में परिणत होने लगा ! जैसे कि—

सखा-सहित गए, माँखन चोरी ,
देख्यौ स्याम गवाच्छ-पंथ ह्वै, गोपी मथत एकु दधि भोरी ।
लखी मँथानी धरी माँटु तैं, माँखन हो उतरात ;
आपुन गई कमोरी माँगन, हरि पाई तब घात ।
पैठे सखन-सहित घर सूने, माँखन, दधि सब खाई ;
छूछी छाँड़ि मटुकिया दधि की, हँसि सब बाहर आई ।

पर, यह क्या माखन-दधि खा-खा कर ग्वाल-मंडली बाहर आना ही चाहती थी कि—

आइ गई कर लएँ मटुकिया, (और) घर तैं निकरे ग्वाल ;

किस तरह—

माँखन-कर दधिमुख लपटानौं, निरखे नँद के लाल ।
कहति आजु क्यौं ब्रज-बालक सँग, दधि-माँखन लपटानौं ;
देखति तै उठि भजौ सखा इक, इहि घर आइ छिपानौं ।
भुज गहि ल्यौ कान्ह इक बालक, निकसे ब्रज की खोर ; ❀
"सूरदास" प्रभु ठगि रही ग्वालिन, मन हरि ल्यौ अँजोर ।

❀ कुछ ऐसे ही अनूठे बहारदार बहाने का विशद वर्णन नारायण स्वामी ने भी किया है। यथा—

तदनन्तर—

चकित भई ग्वालिनि घर हेर्‌यौ ,
माँखनु छाड़ि गई ही वैसैहि, नैकु न कियौ अवेर्‌यो ।
देखी आइ मटुकिया रीती ! मैं राख्यौ इहि हेरी ,
चकित भई ग्वालिनि मन अपने, ढति घर फिरि फेरी ।
देखति पुनि-पुनि घर के बासन, मन हर ल्यौ गुपाल ,
"सूरदास" रस भरी ग्वालिनी, जाने हरि के ख्याल ।

माखन चोर ! सुनते हैं कि "सौ दिन चोर के" तो "एक दिन शाह" का भी होता है अर्थात् कभी-न-कभी कलई खुल ही जाती है । अतः एक दिन—

"चोरी करत कान्ह ! धरि पाए" ,

अर्थात्—एक दिन आखिरकार चोरी करते हुए श्रीमान् पकड़े ही गये, तब तो ग्वालिन कहने लगी कि—

निसि बासर मोहि बहुत सतायौ, अब तुम हाथहि आए ।
माँखन दधि मेरौ सब खायौ, बहुत अचगरी कीन्हीं ,
अब तौ हाथ परे हौ मोहन ! तुमहि भलैं मै चीन्हीं ।
दोउभुज पकरि कह्यौ ग्वालिनि तब, माँखन लेहु मँगाइ ,
तेरी सौ मै नैकु न चाख्यौ, सखा गए सब खाइ ।

मैं कहा कहौं, कछु कही न जावै ,
ऐसो समौ कबहु नहिं देख्ये, कीजे भलौ बुराई आवै ।
तो छींके इक चढ़ी विलैया, माँखन-मटुकी भूमि गिरावै ;
ताहि बिडारि करौं रखवारी, याहू पै मोहि दोष लगावै ।
यही समझि कैं सखा बुलाए, मति कहूँ ग्वालिनि फैल मचावै ,
"नराइन" ए सांख भरैंगे, घर बुलाइकें चोर बनावै ।

—अतएव इस तुर्त-फुर्त की हृदय हर्षा देनेवाली हाजिर जवाबी पर "श्री सूर" गोपी से कहलाते हैं कि—

मुख, तन चितै बिहँसि दीनी री ! रिस तब गई बुझाई,
लए स्याम उर लाइ ग्वालिनी, "सूरदास" बलि जाइ।

लालन ! इस हँसी पर कुर्बान हो जाइये कुर्बान ! आह भैया ! आज इस चित्त चुराने वाली हँसी ने ही सारी लाज रख ली—सारे अदब बनाये रखे, नहीं तो राज खुल ही चुका था, फिर न जाने क्या गति होती ?

जिस पै बीती हो यह वही जाने,
जोकि बेदर्द हो वह क्या जाने। —कोई शायर

लेकिन फिर भी—

चली ब्रज, घर घर मैं यह बात,
नंद-सुत सँग सखा लीएँ, चोरि माँखन खात।
कोउ कहे मेरे भवन भीतरु, अबहिं पैठौं धाइ;
कोउ कहति मोहि देखि द्वारैं, तुरत गए पराइ।
कोउ कहति किहि भाँति देखौ, हरिहि अपने धाम,
हेरि माँखन देंहुँ आछौ, खाँइ जितनौं स्याम।
कोउ कहति मैं बाँधि राखौ, को सकै निरबार,
कोउ कहति मैं देखि पाऊँ, धरौं भरि अँकवार।
जोरि कर बिधि कौं मनावति, पुरुष नंद-कुमार,
"सूर" प्रभु के मिलन कारन, करत बुद्धि-बिचार।

दादा ! आपकी चित्ताकर्षक चोरी की रमणीय "रिपोर्ट" एक दिन बड़ी सुन्दर मिली ! उस दिन शायद आप अकेले ही किसी ग्वालिन के यहाँ पधारे थे। अस्तु मणि-खम्ब के निकट भरी-भराई कमोरी निरख रपट पड़े और लगे दोनो-दोनो हाथों से माखन

भकोसने। ज्यों ही इत-उत सशङ्कित लोचनो से झाँकते हुए सामने मणि-स्तम्भ से चार आँखें हुईं कि प्रतिबिम्ब स्वरूप अपना ही जैसा सखा और एक खड़ा देखा। अस्तु, देखकर, चोरी खुल जाने के भय से डर गये और यकायक कुछ करते व कहते न बना, तदुपरान्त कुछ ढाढ़स बाँधकर अनुनय-विनय के साथ कहने लगे कि वाह भैया ! हमारी-तेरी जोड़ी, "चोर-चोर मौसेरे भाई" जैसी खूब-सुन्दर मिली ! अस्तु, आओ आज से हमारा-तुम्हारा आधा-आधा हिस्सा मौजूदा माल मे हमेशा रहा और यह कहकर उसे माखन देने लगे, लेकिन प्रतिबिम्ब कहीं शरीरधारी-जैसा आचरण करता है ? लेन-देन में कहीं मुब्तला होता है ? अतः उसके ग्रहण न करने के कारण, बीच में ही गिरजाने पर सब-का-सब देते हुए कहने लगे कि भैया ! क्या सारा-का-सारा लेना चाहते हो ? अच्छा यही सही, पर बात यह है बेजा ? भला चोरी साथ-साथ करें हम-तुम दोनों, और सारे माल पर कब्जा करे आप ? अतः दोस्ती निभेगी नहीं। ऐ दादा ! रूठते क्यों हो अच्छा सारा भलेही ले लो इत्यादि-इत्यादि—

अतः इस मनमोहक मजे मे मखमूर वह गोपबाला श्री सूर के सुन्दर शब्दों के सहारे कहती है कि—

आजु हरि ! मनि-खंभ निकट, करत रहे गोरस की चोरी,
निज प्रतिबिम्ब सिखावति सिसु ज्यौं, प्रगट करै जिनि चोरी।
अरध, बिभागु आजुतैं हम-तुम, भली बनी है दोउन जोरी,
माँखन खाहु डरत काहे हौ, छाँडि देहु यहै मति भोरी।
हिस्सा सबै लैन चाहत हौ, यहै बात कछु है नहिं थोरी;
मीठौ अधिक परम रुचिकारी, लागत है देहुँ काढि कमोरी।

प्रेम-उँमगि धीरज नहिं धारौ, हँसी प्रगट मुख मोरी,
"सूरदास" प्रभु सकुचि निरखि, मुख भजे कुंज की ओरी।

वाह ! भोलापन का कैसा दिव्य दर्शन है--कितना "फसहात" भरा वर्णन है, वाह !

भोलेपन से पूछते हैं, तेरी खातर क्या करें,
इस महल पर राजे-दिल, हम उनसे जाहिर क्या करें।

—कोई शायर

चतुर चूड़ामणि ! और लो, आपके इस मनचले "सूर" ने माखन खाते समय का चारु चित्र, हृदय की प्याली में जोशेजवानी का रंग घोल कर भाव की कमनीय कूंची की कृपा से बड़ा अनोखा खींचा है, देखिये न जैसे कि—

गोपाल ! दुरैं-दुरैं माँखन खात,
देखि सखी ! सोभा जु बनी हैं, स्याम मनोहर गात।
उठि अबलोकि ओट ठाढ़े ह्वै, बहु बिधि सौं लखि लेति।
चकित बदन चितवत चहुँ दिसिलौ, और सखन कौं देति।
सुन्दर कर आनन समीप अति, राजत इहि आकार;
मनु सरोज बिधु-बैर बंचि करि, मिलत लऐं उपहार।
गिरि-गिरि परत बदन के ऊपर, ह्वै दधि-सुत के बिन्दु;
मानौं सुभग सुधा कन बरखत, बिलम्यौ आगम इन्दु।
फुरे न बचन बरजिवे कारज, रही बिचारि बिचारि;
बाल-बिनोद बिलोकि "सूर" प्रभु, सिथिल भई ब्रज-नारि। ❀

❀ माखन व दधि की चोरी का "पद्माकर" जी ने भी बड़ा मनोहर चित्र चित्रित किया है, यथा—

चितै-चितै चारौं ओर चौंकि-चौंकि परैं त्यौं ही—
ज्यौंहीं जहाँ-तहाँ जब खरकत पात हैं;

—हाँ तो दादा ! "चोर की मैया कबतक खैर मनाती" अस्तु चारों ओर यही चरचा चलने लगी और "जसोदा मैया" की "हाईकोर्ट" मे, आपकी इस काली करतूत की नित्य नये नाज से अर्जियाँ अदा होने लगी, व दरख्वास्तें नये-नये चाव से गुजरने लगीं—पड़ने लगीं । जैसे कि—

साँवरे ऐ, बरजति क्यौं जु नहीं ;
कहा कहौ दिन प्रति की बातै, नाहिन परत सही ।
माँखन खात, दूध लै डारत, लेपत देह दही ;
ता पाछैं घर हू के लरकन, भाजत छिरक मही ।
जो कछु धरहिं दुराइ दूरि लौं, जानत ताहि तहीं ;
सुनहु महरि ! तुम्हरे या सुत सौं, हम पचिहारि रहीं ।
चोर अधिक चतुराई सीखी, जाइ न कथा कही ;
तापै "सूर" वछरुवन ढिलवत, बन-बन फिरत वही ।

भैया ! और लो, सूरदास जी की हाँ-में-हाँ मिलाते नंददासजी भी यही कहने लगे कि—

काहे आइ न देखौ रानी जू ! अपने सुत के करम ,
भाजन भवन रह्यौ नहि एकौ, कहति हँसि परत, को जानैं काहू कौ मरम ।
दिन-दिन हाँनि, दूजैं न राखत काँनि, कहौ जू बसैं कैसैं कौंन से धरम ,
"नंददास" प्रभु मैया आगैं साधु ह्वै बैठे, चोरी कौ कहा भरम ।

भाजन सो चाँहत गँवारि ग्वालिनी के कहूँ—
डरन-डराने से उठाने रौंम-गात हैं ।
कहै "पद्माकर" सु देखि दसा मौहन की,
सेस हू, सुरेस हू, महेस हू, सिहात हैं ;
एकु पग भीत, एकु पग मीत-काँधै धरैं ,
एकु हाथ छींकौ, एकु हाथ दधि खात हैं ।

—और "चतुर्भुजदास" जी भी कब चुप रहने वाले हैं ? यह भी इस मौजू मौके पर चर्चा क्यों न करें ! जैसे कि—

सुनौ धौं अपने सुत की बात ;
देखि जसोमति ! काँनि न राखत, लै माखन दधि खात ।
भाजन भाँजि, डारि सब गोरस, बाँटत हैं कर पात ;
जो बरजौं तौ उलटि डरावत, चपल नैन की घात ।
जो पावत सोइ गहत अनौखौ, कहत न कछु सकुचात ;
हौं सकुचत अंचल कर धरिकै, रहौ ढाँपि मुख, गात ।
गिरिधर लाल, हाल ऐसे करि, चलत धाइ मुसिकात ;
"दास चतुर्भुज" प्रभु जानत है, यह सौंहैं देइ सात ।

अरे, और लो दादा ! और लो ? यह "मरहेटी" कहाँ से कूद पड़ी ? कब-कब का बदला निकालने कढ़ आयी । वाह ! जैसे कि—

महरि ! तुम ब्रज चाँहति कछु और ;
बात एकु हू सुनति न नैकौ, आपु लगावति झौर ।
जहाँ बसैं अपुनी पत नाहीं, तजन कह्यौ सो ठौर ;
सुत के भएं बधाई पाई, लोगन खेदत हौर ।
कान्ह पठाइ देति घर लूटन, कहत कन्यौ यह गौर ;
ब्रज-घर समझि लेहु "मरहैटी" हहा करति कर गौर ।*

—राग-रत्नाकर

* उक्त पद, सूरदासजी के नाम से भी मिलता है पर एक तुक विशेष के साथ—

महरि तुम ब्रज चाँहति कछु और ,
बात एकु मैं कही की नाहीं, आपु लगावति झौर ;
जहाँ बसैं पति नहीं आपुनो, तजन कह्यौं सो ठौर ।
सुत के भऐं बधाई पाई, लोगन देखति हौर ,
कान्ह पठाइ देति घर लूटन, कहति करौ या गौर ।

देखा भगवन् ! अपनी बेजा वारदातों का विशद विवरण, देखा न, लेकिन इससे आप को क्या ? मैया के लाख बार यह कहने पर भी कि—

कान्हा ! नित नये उराहने लावै,
दूध, दही घर कमी न नैंकौ, नाहक धूम मचावै ।
माँखन तनक खान के कारन, माँखन चोर कहावै,
"सूर" स्याम कौ जसुमति मैया, बार-बार समुझावै ।

और—

बहुतेरौ समुझायौ री ! लाखन बार,
तनक दही के कारन कान्हा, माँखन-चोर कहायौ री ! लाखन बार ।

❀ ❀ ❀

ठहरो-ठहरो मैया ! अभी समझाने-बुझाने का जरा देर नाम न लो, क्योकि वह देखो एक गोपी उलहने से भरे हाव-भाव के साथ माखन-चोरी के समय का—निराली छवि का, कितना सुन्दर वर्णन कर रही है; जैसेकि—

करत रहत नित चोरियाँ स्यामसुन्दरवा,
घरी-घरी पल-छिन माँखन चुरावै, आइकै मोरे मँदिरवा ।
लटकि-लटकि पग धरत धरनि पै, उझकि-उझकि मुख निरखति--
निसिदिन, माधुरी-मूरति साँवरी-सूरत, रस-बस करि लेत दुलरवा ;
मोर-मुकट, स्रवन कुंडल झलकत हैं, अंग-अंग नव भूषन-मनि—
छूम-छननन पग नूपुर बाजै, ठुमकि चलति गति लेति चरनवा ।
—कोई कवि

ब्रज घर समझि लेहु महरि जू । हहा करति कर जोरि,
"सूर" सुनति ग्वालिन की बातें, जसुमति रही मुख-मोरि ।

हाँ तो, मैया के लाख बार समझाने-बुझाने पर भी अपनी वही बेजा हरकत—वही पुरानी चालों से बाज न आये, न आये ? क्योंकि—

ऐवे-जाती तरवियत से भी न ज़ायल हो सके ;
तल्ख़ी शक्कर में भी देवे, तल्ख़ जो बादाम हो ।

—कोई शायर

—अस्तु कितनी दुर्दशा हुई, कितने दुत्कारे गये—फटकारे गये, पर अपनी चालो से न चूके, न चूके । वाहरे निर्लज्ज ! वाह, याद है न भैया ! मैया ने आपकी इस निर्लज्जता से खीझ कर ऊखल से बाँधा था ? मारे थप्पड़ो के गाल लाल-लाल कर दिये थे ? और उस बेंत की मार तो आज तक न भूली होगी—न भूली होगी !

उफ, मैया की बेंत लिये वह ठनगन—वह निराली अदा के साथ परेशानी और घट-घट में यानी—

"मो मैं, तो मैं, खड्ग खंभ मैं"*

—विराजने वाले तुमको, पकड़ने के लिये वह व्याकुलता, निरखने लायक थी—दर्शनीय थी । देखिये-देखिये ! "श्री शुक" उसका कितना सुन्दर वर्णन करते हैं । यथा—

अन्वञ्चमाना जननी बृहच्चल
च्छ्रोणीभराक्रान्तिगतिः सुमध्यमा ;
जवेन विस्रंसितकेशबन्धन-
च्युतप्रसूनानिगतिः परामृशत् ।

* न चान्तर्न वहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम् ,
पूर्वापरं वहिश्चान्तर्जगतो यो जगच्चयः ।

—श्रीमद्भागवते १०।९।१३

भैया ! मैया का वह नयनाभिराम अभिनव स्वरूप भाषा में हम क्या कहैं—

"सुन्दरता किमि जाइ बखानी ;
गिरा अयन, नयन बिनु बानी।" —तुलसीदास

अथवा—

"नैंननि कैं नहिं बैंन, बैंन कै नैंन नाहिं अब। —नंददास

लेकिन जी इतने पर नहीं मानता ! अस्तु श्रीहरलाल जी के शब्दों में उस अतुलित रूप को कुछ थोड़ा सा कहते हैं। यथा—

सूच्छम सौ कटि कौ तट सुन्दर, दौरि चलैं सुहलै बपु गाढ़ी ;
फूल झरैं कबरी बिथुरैं, सुहरैं गति मंद भई मति चाढी।
पाछैं लगी हरि के जसुदा, स्रौंनी लचै रुचि कै भर वाढी ;
धीर धरै पुनि पाछैं लखै, अकि कै, बकि कैं, थकि कैं रही ठाढ़ी।
—भागवतार्थ-विनोद

—और भैया ! आपका भी वह "सशंकित स्वरूप" देखने लायक था—निरखने लायक था। जैसे कि—

उलूखलाङ्घ्रेरुपरि व्यवस्थितं,
मर्काय कामं ददतं शिचिस्थितं ;
हैयङ्गवं चौर्य्यं विशङ्कितेक्षणं,
निरीक्ष्य पश्चात्सुतमागमच्छनैः।
—श्रीमद्भागवत १०।९।८

लाला ! आपकी कुछ ऐसी ही अनुपमतायुक्त चपलताई का दिग्दर्शन "श्री सूर" ने अन्यत्र भी किया है। यथा—

मो देखति जसुमति तेरे ढोटा ! अब ही माँटी खाई ;
इहि सुनि कैं रिसि करि उठि धाई, बाँह-पकरि कैं लाई।

इक कर सौं भुज गहि गाढे करि, इक कर लीनी साँटी ,
मारति हौं तोहि अबहि कन्हैया ! वेगि न उगलै माँटी ।
ब्रज-लरिका सब तेरे आगे, झूठी कहत बनाई ;
मेरे कहे नहीं तू मानत, दिखरावौ मुख-वाई ।

मृत्तिका-भक्षण के अवसर पर कुछ ऐसा ही "परमानंददास" जी ने भी कहा है । यथा—

देखौ गुपाल जू की ठाटी ;
सुर, ब्रह्मादिक अचरच ह्वै है, जसुमति हाथ लएँ रजु-साँटी ।
ए सब ग्वाल प्रगट कहत है, स्याम मनोहर खाई माँटी ;
बदन-उघारि लख्यौ मुख भीतर, त्रिभुवन रूप बिराटी ।
केसव के गुन बेद बखानै, सेस-सहस-मुख साटी लाटी ;
लख्यौ न जाइ अंत अंतर-गति,बुधि न प्रबेस कठिन यह घाटी ।
जनम-करम-गुनि स्याम बखानति, समुझि न परै गूढ परपाटी ;
जाके सरन गएँ भै नाहीं, सो सिन्धु "परमानँद" दाटी ।

हाँ तो, "मैया ने मारे थप्पड़ों के लाल-लाल गाल को और भी लाल किये थे" तथा लकुटि लगने की ललाई तो आज तक न गयी होगी, व साँटी का सटाका न भूला होगा—न भूला होगा । जैसे कि—

ऐसी रिस मै जो धरि पाऊँ ;
कैसे हाल करौं धरि हरि के, सब कौ प्रगट दिखाऊँ ।
साँटी लएँ हाथ नँद रानी, थरथरात रिस गात ;
मारे विना आजु जो छाँडौ, लागे मेरे तात ।
यह अंतर ग्वालिनि इक औरे, धरै बाँह हरि ल्यावति ;
भलौ महरि ! सुत सूधौ जायौ, चोली हार बतावति ।

रिस मैं रिस अति ही उपजाई, जानि जननि अभिलाखि ;
"सूर" स्याम-भुज गहे जसोदा, अब बाँधौ कहि माखि ।

अथवा—

बाधौं आजु, कौन तौहि छोरै;
बहुत लँगराई कीनी मोसौं, भुज-गहि रजु ऊखल सौं जोरै ।
जननी अति रिस जानि बँधाऐ, चितै बदन, लोचन अँसु ढोरै ;
यह सुनि ब्रज-जुवती उठि धाईं, कहति कान्ह अब क्यौं नहिं चोरै ।
ऊखल सौं गहि बाँधि जसोदा, मारन कौं साँटी कर तोरै ;

—सूरसागर

—हाँ हाँ, अबतक न भूला होगा ! सब कुछ याद होगा ! पर स्वीकार करना तो आप जानते ही नहीं । भैया ! तुम्हारा ऊखल से बँधना भी कुछ कम कौतुक न था । वेद और उपनिषद् जब नेति-नेति कह कर थक गये और आपको किसी प्रकार कैद में न कर सके, तब आप को बड़ा घमण्ड हुआ होगा ? अस्तु, वही घमण्ड आज यशोदा मैया के आगे चूर-चूर हो गया । यहाँ जरा भी चीं-चपड़ करते न बना और बँधना ही पड़ा ।

परमिममुपदेशमाद्रियध्वं, निगमवनेषु नितान्तखेदखिन्ना,
विचनुतभवनेषु बल्लवीनामुपनिषदर्थमुलूखले निबद्धम् । *

—कस्यचित्कवेः

वेदों मे खोजते-खोजते थके हुए दुखी जनो ! ब्रह्म-प्रेमियों !

* इसी भाव पर एक संस्कृत-सूक्ति और याद आगयी है, जैसे कि—

निगमतरौ प्रतिशाखं—मृगितं मिलितं परं ब्रह्म,
मिलित मिलितमिदानी, गोपव धूटीपटाञ्चलेनद्धम् ।

—उद्भटसागरे

अथवा ऋषियों ! आओ—आओ, हम बतायें आपके उस "परब्रह्म" को ! हम दर्शन करायें आपके उस परात्पर, सर्व व्यापी, सर्व स्रष्टा को, देखो-देखो ! वह उस गोपिका के बृहद्-प्राङ्गण में वेद और उपनिषद का तत्वरूपब्रह्म "ऊखल" में बँधा बैठा है । देखो न देखो !

जिनि बाँध्यौ सुर, असुर, नाग, नर, प्रबल करम की डोरी ;
सोइ अविछिन्न ब्रम्ह जसुमति हठि, बाँध्यौ सकत न छोरी ।

—सूरसागर

ठहरिये साहब ! भागिये नहीं, क्योंकि माखन-चोरी के इल्जाम में जो-जो कुछ दुर्गति होनी थी सो हो चुकी—जो कुछ सजा मिलनी थी सो मिल चुकी । बाद "अमनो-अमान" के यह और क्या सुनने में आ रहा है ? भैया ! माखन-चोरी के अलावा चित्त की चोरी भी करने लगे—मन-माखन भी मूस कर भगने लगे ? जैसे कि—

मौंहन, चोर्यौ री ! मन-माँखन ;
उरज-मथाँनी दुहु कर दृढ़ गहि, लग्यौ अधर-रस चाखन ।
नेती लाज तोरि सब सूँत्यौ, नैंकु न रह्यौ रवाई आँखन ;
जाइ कहौंगी "ब्रज-पति" जू आगै, नाहीं कोऊ साखन ।

श्रीसूर ने भी चित्त-चोरी का अजूबा इल्जाम, अपनी प्रगाढ़ प्रतिभा के प्रताप से बड़ा सुन्दर लगाया है । यथा—

मेरे हियरे माँझि लगौ मन-मौहन, लै गयौ मन-चोरी ;
अबही इहि मारग ह्वै निकस्यौ, छबि निरखति तृन-तोरी ।
मोर-मुकट, स्रवननि मनि-कुंडल, उर बनमाला, पीत-पिछौरी ;
दसन चमक, अधरन अरुनाई, देखति परी ठगोरी ।

व्रज-लरिकन सँग खेलति डोलति, हाथ लएँ चक डोरी ;
"सूर" स्याम चितवति गयौ मन, तन मन लयौ अजोरी ।

अथवा—

महा चित-चोर नैंन की कोर ;
लाज गई, घूंघट-पट बिसर्‍यौ, तकि चितए इहि ओर ।
वे सखि ! सिंघ द्वार ठाड़े, हौं खिरक चली उठि भोर ;
दैं कैं सैन मैंन रस भारी, नागर नंद किसोर ।
कमल, मीन, मृग, खंजन हूं नहिं उपमा कौ जोर ;
"चतुर्भुज" प्रभु गिरधर मुख बिधु, मो अँखियाँ भई चकोर ।

अथवा—

मदन-मौहन चित चोर, भए री अब ;
अब कछु और-और ढंग दीखत, छलबल करत कठोर ।
सीखे स्याम आँखिन मैं चोरी, देखत-देखत ओर ;
"जानकी दास" व्रज-तिय यौं कीनी, जैसै चंद चकोर ।

वाह साहब ! यह किस चटसाल की पढ़ाई है, किस "मकतब" की मधुर महिमा का मुवालगा है, बताओ न प्यारे ! यह सीना-जोरी किसके पास से सीखी—कौन से उस्ताद से यह नया सबक सीखा—

सीखे हो किस से मोहन ! हँस-हँस के दिल चुराना ,

और फिर—

नाहक को यूँ फँसा के, तन-मन की सुधि भुलाना ।

मुन्शी नरसिंहप्रसाद

हाँ-हाँ, भला जाने भी तो कि यह किस पुनीत पाठशाला की पढ़ाई है ? बताइये, बताईये !

अरे, देखो-देखो भैया! वह आपके प्रेम की पगली अपने चित-चोर को, किस आजिजी के साथ अपनी उन्मत्त आँखों से पूँछ रही है। कि—

नैंनो रे! चित-चोर बतावौ ;
तुमहीं रहत भवन रखवारे, बाँके बीर कहावौ।
तुम्हरे बीच गयौ मन मेरौ, चाहैं सौ हैं खावौ ;
अब क्यों रोवत हौ दई मारे! नैकु तौ थाह लगावौ।
घर के भेदी बैठि द्वार पै, दिन मैं घर लुटबावौ ;
"नाराइन" मोहि वस्तु न चहिऍं, लैनहार दिखरावौ।

—अरे बतादो—बतादो, कि चित-चोर कहा छिपा है? किस तरफ भाग गया है? किधर चला गया है? बताओ न! अरे, तुमहीं न इस देह-भुवन के—मकान के, बड़े वीर और बाँके रखवाले थे? फिर तुम्हारे सामने ही "मन" चला जाय बड़ी शर्मिन्दगी की बात है, निहायत अफसोस का मौका है। उफ! यह क्या? ऐ, सौंहें—कशमें खाने लगे और ऊपर से रोने भी लगे? वाह यारों, वाह! खूब रहे, घरके भेदी होकर—दरवाजे पर बैठ कर दिन में घर लुटवा दिया और ऊपर से ये बनावटी बेजा-हरकत? अस्तु, भैया! उनसे-चोर से मन-वस्तु चाहे न मिले, लेकिन कम से कम लेने वाले को तो कृपया दिखला दो, जरा उस चित-चोर को तो बतला दो कि—किधर गया? किस तरफ को गया? इधर गया या उधर गया? हाँ-हाँ—

"नाराइन" मोहि वस्तु न चहिऍं, लैनहार दिखरावौ।

—दिखा दो, दिखा दो! अरे दिखा दो! जरा तो दिखला दो! उफ!

सखीरी ! होत कहा समुझाएँ,
नैंन, बैंन थकि रही री निरखि छवि, मन परौ हाथ पराएँ।
गड़ी कोर उर बंक-बिलोकनि, कटत न क्यौं हूं कटाएँ,
"ब्रह्मदास" तव ही भलैं जीवन, मौंहन-वदन दिखाएँ।

अरे, बड़े निरमोही हो? बड़े वेदरद हो? अपनी छबीली-छबि से छकित कर—रूप-सुधा की सुन्दर मदिरा से मद-मस्त बना, अथवा चितवन से चित-को चुरा, अलग जा खड़े हुये और फिर भागे जा रहे हो! चुरा कर चले जा रहे हो! वाह—

बेदरदी तोहि दरद न आवै;
चितवन मैं चित बस करि मेरौ, अब काहे कौं आँख चुरावै।
कब सौं परी द्वार पै तेरे, बिनु देखैं जियरा अकुलावै;
"नाराइन" महबूब साँवरे! घाइल करि फिर गैल बतावै।

—अरे! हम तो द्वार पर पड़े "आँख का ठिकड़ा" * कप-कपाते हुए हाथों में लिए "दीदार" की भिक्षा का इन्तजार कर रहे हैं और आप पल्ला छुड़ाकर भागे जा रहे हैं—घायल करके रास्ता बताते हुए छल-बल करके छिपना चाह रहे हैं! अस्तु—

जानी! भौंहौं की तानों से, हमको मत खींचो आरों पर;
दर्शन अलबेले बाँके का, चलना खंजर की धारो पर।
यह वार तुम्हारे होते हैं, दिलबर दिल शेर हजारों पर,
कट जा मन सफल मनोरथ है, काशी करवट के आरों पर।

* आँखें नहीं हैं चेहरे पर, तेरे फकीर के,
दो ठीकड़े है भीख के, दीदार के लिये।

अथवा—

काहे हमको दिखलाते हो, जानी अबरू खमदार बहुत,
वे दिन दिलवर क्या भूल गये, करते थे हमसे प्यार बहुत।
अब "परै सरक जा" कहते हो, होजा मत मुझसे यार बहुत,
इन दिनो बगल मे रहती है, जालिम तेरे तलवार बहुत।

—शीतल

प्यारे ! समझा, समझा ! आप चित-चुराकर जो भागे जा रहे हैं इसका रहस्य—इसका गूढ़तम अर्थ; आज अनुमान किया ? आज इस बेपते का पता पाया ? जैसे कि—

रत्नाकरस्तव गृहं गृहिणी च पद्मा,
किं देयमस्ति भवते जगदीश्वराय।
राधा गृहीतमनसः मनसोऽस्ति दैन्यं-
तन्मेगृहाण पद-पङ्कजमर्पित ते ॥

—रहीम

अर्थात्—श्रीमान् ! समस्त रत्न-रञ्जित रत्नाकर तो आपका स्थान, लक्ष्मी आपकी पत्नी और आप जगत के ईश्वर—मालिक ! कहो-कहो फिर किस बात का टोटा है जो आपको कुछ अर्पित किया जाय। अरे, समझा—समझा ? एक अमूल्य वस्तु आपके पास नहीं है, उसे मैं जानता हूँ, समझ गया हूँ—जिसका कि आपके पास बेहद टोटा है, कारण कि (उसे आप ही कहते हैं, हम नहीं कहते) आपका जो मणि-माणिक से भी मूल्यवान "मन" था उसे श्री प्रियाजी ने जबर्दस्ती छीन लिया ! अस्तु, इसी कारण आप औरों के मन-माणिक छीनते-चुराते तो नहीं डोलते हो ? लेकिन इतनी मेहरबानी करो कि—

मिट जाय बेकली मेरी, दूर इज़तराब हो ;
दिल ले के जाँ भी लेलो, तो दूना सवाब हो ।
—कोई शायर

बेचारे "मीर" तो सारे संसार में टटोलते ही रहे—ढूँढ़ते ही रहे, पर दिल का तलबगार, यानी खरीदार कोई न मिला, जैसे कि—

आलम में कोई दिल का, तलबगार न पाया ;
इस जिन्स का याँ हमने, ख़रीदार न पाया । —मीर

—सो भी कितनी मामूली क़ीमत में—अल्प मूल्य में, जैसे कि—

मुहब्बत की उचटती सी नज़र इस दिल की क़ीमत है ;
यह सौदा बिक रहा है, आप क्या इरशाद करते हैं !
—हश्र

सरकार ! ले लो, रख लो, बड़ा सवाब होगा—निहायत अहसान होगा, और फिर यह आपके काले रंग के अनुरूप भी तो है ! अस्तु, लेलो'न ! रख लो न ! "दीनदयालजी" की ही बात मान लो न ! जैसे कि—

कारौ जमुना-जल सदाँ, चाँहत हौ घनस्याम !
बिहरत पुंज तमाल के, कारे कुंजन-ठाम ।
कारे कुंजन-ठाम, कामरी कारी धारे ;
मोर-पखा सिर धरैं, करे कच कुंचित कारे ।
वरनैं "दीनदयाल", रँगौ रँग बिषय बिकारौ ;
स्याम ! राखिऐ पास, अहै मन मेरौ "कारौ" ।

—क्योंकि आपको काली वस्तुएँ विशेष प्रिय हैं । कन्हैया ! कलिन्द-नन्दिनी के कज्जल-कलित ललित जल के किनारे खेलना चाहते ही हो ? तमाल वृक्षों के पुंज की काली-काली कुंजों में दुरना—छुपना

चाहते ही हो ? काले-काले मोर के पंख माथे पर धर ही रखे हैं और कारे सटकारे कुंचित केशावली इधर-उधर छिटकाते ही हो ? अस्तु, विषय विकारों के गहरे काले-रंग में रँगा हुआ यह मेरा मन भी नितान्त काला हो गया है, अतएव इसे पास रखने की कृपा कीजिये।

"स्याम! राखिऐ पास, अहै मन मेरौ कारौ"

—हाँ साहब! निहायत इनायत हो, दूना सवाब हो जो कि दिल के साथ-साथ इस बे-दिलवाली जान को—शरीर को भी लेलो, अपना लो, इसे भी दिल के साथ-साथ चुराकर चलते बनो ? क्योंकि—

हमसे बे-दिल, रहा नहीं जाता ;

❀

दिल लिया है तो जान भी ले लो ;
हमसे बे-दिल, रहा नहीं जाता। —मीर

—हाँ तो "नैनौं रे! चित-चोर बताओ"! हाँ-हाँ नयनो! चित्त का चोर, दिल का—मन का जबर्दस्ती छीनने वाला! बतलाओ, बतलाओ ? अरे बतलाओ न कि—वह मेरे कलेजे का कुचलने वाला कहाँ गया ? जी मसोस कर कहाँ छिप गया ? मेरे जीवन की डोर, इस सुनसान-मन की निर्झरिणी नदी, मेरे हृदयाकाश का चमचमाता हुवा चाँद, कहाँ गया ? किधर गया ? अरे बतलाओ न ? उफ!

मौंहन चोर, पकरि कैसैं पाऊँ ;
देखति हौं दृग भरि-भरि सजनी! परसन कौ रहि-रहि ललचाऊँ।
दुर्‌यौ निकुंज लता बन बीथिन, निपट निकट मैं कहाँ बताऊँ,
"ललित माधुरी" ही मैं जी-सँग, चित-चोरै हौं आँ नि मिलाऊँ।

हाँ, बतलाओ न कि कैसे मैं उस मोहन चित-चोर को पकड़ पाऊँ ? कैसे उसे हृदयस्थल की निगूढ़ दरीची में पकड़ कर बन्द कर सकूँ ? जिससे कि वह भागने भूगने का फिर कभी नाम ही न ले। ओह ! चारों तरफ आँख फाड़-फाड़ कर देख रही हूँ, स्पर्श के लिये—हृदय से लगाने के लिये, रह-रह कर ललचा रही हूँ, जी मसोस-मसोस कर बैठी जा रही हूँ, पर उस ला-पता का पता नहीं मिलता ? नही मिलता ?

> थक गये हम करते-करते इन्तज़ार ;
> इक क़यामत उनका पाना हो गया।

अरे चित-चोर ! कब से तेरी खोज में हूँ ? कब से तेरा पता लगा रहा हूँ—हर किसी के पैरों पड़कर तुझको पूँछ रहा हूँ ? पर न मालूम तू कौन से अँधेरे से अलंकृत कोने में छिप कर खड़ा-खड़ा मुस्करा रहा है।

> ठहर दरश देता नहिं कबहू, गुण-गँभीर गरबीले ;
> ठग-ठग लेत ठगन मन, मेलत मृग-शावक-दृगवीले।
> अलक बाल-मृदु मत्त बँधे गज, आशिक वर अरवीले ;
> "सहचरिशरण" रसिक रसिया के छल-छल-छन्द छबीले।

माखन और चित के चोर ! तुझे कहाँ-कहाँ न ढूँढा ? किधर-किधर न खोजा ? "व्रज" की "विपुल बीथियो" मे, "नंद बाबा" के दिव्य दरवाजे, "गोपियों" के साधना संयुक्त अँधेरे कलेजे के कमनीय काननों के साथ उनकी भव्य भीर मे, अथवा तरनि-तनया के "निरमल नीर" मे,—तीर में, "पारथ" के रथ पर, परम भक्त "प्रहलाद" के पास, ग्राह-ग्रसित "गज" के पास, कहाँ तक गिनायें—इस द्विविधा की माला के मनियाँ कहाँ तक सटका कर

बतायें कि, किस-किस जगह आपको खोजा ? अजी! मैंने "विदुर" की "भाजी" वाला घर भी छान डाला, बेर "विभूषित-भिलनी" की कमनीय कुटिया को ढूंढ डाला, परम सुशील "सुदामा जी" के उन "चंद चावलों" को भी छान बीन डाला और चौदहो अनन्त स्वरूप "द्रुपद-सुता" के उस अनन्त और अक्षय "लत्ते" को भी अदल-बदल कर देख डाला पर वाह वे बेपते—बे-निशाँ वाले ! तेरा पता, तेरा निशाँ और तेरा खोज न, मिला ! न मिला !

धाए फिरौ ब्रज मैं बधाए नित नंद जू के ,
गोपिन सधाए नचौ गोपिन की भीर मैं ;
"देव" मति मूढै तुम्है ढूढै कहाँ पावैं, चढे-
पारथ के रथ कै जमुना के नीर मैं ।
आँकुस ह्वै दौरि हिरनाकुस कौ फार्‍यौ उर-
साथी ना पुकार्‍यौ, हते हाथी हिय तीर मैं ;
विदुर की भाजी, बेर भीलनी के खाय,—
बिप्र चाउर चबाइ, दुरे द्रौपदी के चीर मैं ।

हाँ, वहाँ भी आपका पता न मिला और खोज की खब्तगी के खयाल में पड़ कर, उपनिषदों के आकूल उदधि में वेदों का बाँस लिये गोते लगा-लगा कर ढूँढा, उसके गगन-चुम्बित हिलोर-बल्लरियों के हिन्डोले पर चढ़ थिरकता हुआ अचिन्त्य-आवर्त्तों के आनन्द में निमग्न हो कितने ही चक्कर पर चक्कर लगाये, पर वाहरे शोख ! वहाँ भी तेरा पता न मिला और न यही पता मिला कि—

चखन रूप चकचौंधी मैं, चित मारी लात खरी है ,
अकस्मात यह अलक आइ कैं, मन-जंजीर परी है ।
मृदु-मुसिकान गूढ उर घाली, मोहन मोह-भरी है ;
"सहचरिसरण" रसिक आशिक़ ने क्या तक्सीर करी है ।

ऐं, क्या कहा कि इन मालती-लता से, जाति जूथ से, अभिवंदनीय चंदन से और लहलही इन ललित-लतिकाओं से, अथवा डहडहे—चारु नयन वाली इन मृग-बधूओ से, शोक-हर अशोक से, पनस आदि से भी पूँछा? उफ, भूल हो गयी अस्तु—

हे मालति! हे जाति-जूथके! सुनि हित दै चित;
मान-हरन, मन-हरन लाल-गिरिधरन लखे इत।
हे केतकि! इत तैं कितहूँ, चितए पिय-रूसे;
नंद-नँदन कै मन्द मुसकि, तुमरे मन-मूसे।
हे मुक्ता-फल-बेलि! धरौ मुक्ता-फल माला;
देखे नैंन विसाल मौंहना, नँद के लाला।
हे मन्दार! उदार, बीर, हर-पीर, महामति;
देखे कहुँ बल-बीर, धीर, मन-हरन धीर गति।
हे चन्दन! दुख-दंदन, सब की जरन जुरावहु;
नँद-नंदन, जग बंदन, चंदन, हमहिं बतावहु।
पूँछौ री! इन लतनि, फूलि रहीं फूलन जोई;
सुन्दर पिय के परस बिना, अस फूल न होई।
हे सखि! ए मृग बधू, इनहिं किन पूंछौ अनुसरि;
डहडहे इनके नैन, अबहि कहुँ देखे है हरि।
अहो सुभग बन-सुगँधि-पवन! सँग थिर जु रही चलि;
सुख के भवन, दुख दवन, रमन, इत तैं चितए चलि।
अहो चम्पक! अहो कुसुम! तुम्है छबि सब सौं न्यारी;
नैंकु बताइ जु देहु, कहाँ हरि कुंज-विहारी।
अहो कदम्ब! अहो निम्ब! अंब! क्यों रहे मौन गहि;
अहो उतंग! बट तुंग! बीर कहुँ तुम इत उत लहि।

अहो असोक ! हर सोक, लोक-मनि, पियहि बतावहु ;
अहो पनस ! सुभ सरस, मरत हम अमिय पियावहु ।
जमुन निकट के विटप, पूँछि भई निपट उदासी ;
क्यौं कहि हैं सखि ! महा कठिन, तीरथ के बासी ।
हे जमुना ! सब जानि बूझि, तुम हठहिं गहति हो ;
जो जल जग-उद्धार ताहि, तुम प्रगट बहति हो ।
अहो कमल ! सुभ बरन, कहौ तुम कहुँ हरि निरखे ;
कमल-माल वनमाल, कमल कर अतिही हरखे ।
हे अवनी ! नवनीत-चोर, चित-चोर, हमारे ;
राखे कितहि दुराइ, बतावहु प्रान-पियारे ।
हे तुलसी ! कल्यान, सदाँ गोबिंद-पद-प्यारी ;
क्यौं न कहौ सखि ! नंद-नँदन सौं बिथा हमारी । —नंददास

इसी भाव से विभूषित कुछ पदावली "भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी" ने, अपनी चन्द्रावली नाटिका में चन्द्रावली द्वारा कहलाई है । यथा—

अहो जु बन के रूख ! कहूँ देख्यौ पिय प्यारौ ;
मेरौ हाथ छुडाइ, कहौ वह कितै सिधारौ ।
अहो कदम्ब ! अहो निम्ब ! अम्ब ! अहो बकुल ! तमाला ;
तुम देखे कहुँ मनमौहन, सुन्दर नँद लाला ।
अहो कुंज ! बन, लता, बिरुधि तृन पूछति तोसौं ;
तुम देखे कहुँ स्याम मनोहर, कहहु न मोसौं ।
अहो जमुना ! अहो खग-मृग हो ! अहो गोबरधन गिरि ;
तुम देखे कहुँ प्रान पियारे, मन मौहन हरि ।
अहो पौंन ! सुख भौन, सबै थल-गौंन तिहारौ ;
क्यौं न कहौ राधिका-रौंन सौं, मौन निबारौ ।

अहे भँवर ! तुम स्याम रंग, मोहन-व्रत धारी :
क्यौं न कहौ, वा निठुर स्याम सौ दसा हमारी।
अहे हंस ! तुम राजबंस सरवर की सोभा ;
क्यौं न कहौ मेरे मानस सौं, दुख के गोभा।
हे सारस ! तुम नींकैं बिछुरन-बेदन जानौं ;
तौ क्यौं पीतम सौ नहिं मेरी, दसा बखानौं।
हे कोकिल-कुल ! स्याम रंग की तू अनुरागी ;
क्यौं नहिं बोलत तहाँ जाइ, जहँ हरि बड़ भागी।
हे पपिहा ! तुम पिउ, पिउ, पिउ, पिउ रटत सदाँई ;
आजहु क्यौ नहिं रटि-रटि, पिय कौ, लेहु बुलाई।
अहो भानु ! तुम तौ घर-घर मै, किरन प्रकासौ ;
क्यौं नहिं पियहिं मिलाइ, हमारौ दुख-तम नासौ।

माखन, चीर और चित्त के चोर ! ज्यादह चोचले न दिखाओ, और अधिक न तरसाओ ! अरे हमको तुम्हारी सारी शरूर भरी शरारतें मालूम हैं—कुछ छिपा नही हैं, हम जानते हैं कि—

अँधियारी निस कौ जनम, कारे कान्ह गुपाल ;
चित-चोरी जो करत है, कहा अचभौ लाल !

उफ छलबलिया ! अरे, दिन-दहाड़े डाकेजनी की चपल चर्चा की शोहरत जो कुछ है सो तो है ही ! लेकिन तुम तो निशीथ के उस पवित्र पहर मे जब कि आपकी चुलबुली और हठीली स्मृति माधुरी को कलेजे से लगाये, लालसा-लता की पुष्पाञ्जली के साथ, एवं विरह उत्ताप से उत्तापित स्वच्छ और स्निग्ध प्रेमाश्रुओं की अर्ध मुकुलित नेत्र द्वयरूप कम्बु (शंख) द्वारा अभिषेक के समय न मालुम किस रास्ते आ जाते हो ? क्योंकि—

देखौं जागति वैसिऐ, साँकर लगी कपाट;
कित ह्वै आवत, जात भजि, को जानै किहि बाट। *

—विहारी

हृदय-पोली रूप दरवाजे के कपट-कपाट खुलते ही नहीं! उन्हें तो अन्धता की साँकल से सुसज्जित वैसे ही लगे पाती हूँ—वैसे ही जुड़े पाती हूँ? पर न मालुम आप किस रसीले रास्ते से, किस मनोहर मार्ग से, आकर मन माणिक को ले भागते हैं। चित्त को चुरा कर चलते बनते हैं, कुछ समझ में नहीं आता! देखिये न जैसे कि—

किन छलियौ री! मेरौ रतियाँ जियरवा;
सुन्दर स्याम सपन हम देखौ, जाहि सुधि दहकत हमरौ हियरवा।
तेहि की छबि देखत मै भूली, पियरा! जान पडा न सबरवा;
जागत नीर बहत अँखियनु तै, अब अँसुबन नित भीजै अँचरवा।
जग आ ऐसी प्रीति न देखी, यह बिधि काहु कौ लागौ न हरवा;
"मनसा-फल" पिय बिस के कायम, तोरे गर लाग्यौ है मन के करवा।

भैया! माखन-चोरी, चीर-चोरी और चित्त-चोरी के इल्जाम के अलावा आपके अनन्त अनुपम ऐबो का, हमारे परम मित्र स्वर्गीय "सत्यनारायणजी" ने अपने एक "पद" में बड़ा सुन्दर खाका खींचा है और उसमें स्पष्ट दिखला दिया है कि श्रीमान् ने कभी किसी के साथ रत्ती भर भी भलाई नहीं की, अपनी वही

* मियाँ जौक़ भी इसी गम में गर्क है कि वह दिलदार दिल के बन्द रहने पर भी किस राह से आता-जाता है। यथा—

खुलता नहीं दिल बन्द ही रहता है हमेशा;
क्या जाने कि आ जाता है तू इसमे किधर से।

पुरानी चंटताई से—खुटाई से खचित चाल से, दुनियाँ की आँखों को धूल-धूसरित करते अर्थात्—उनमें धूल डालते हुए सिर्फ इधर का उधर, यानी हेर-फेर करते रहे और कुछ नहीं। जैसे कि—

माधव ! आपु सदाँ के कोरे ;
दीन, दुखी जो तुमकौं जाँचतु, सो दानिनु के भोरे।
किन्तु बात इहि, तुव सुभाव वे, नैंकहु जानत नाहीं ;
सुनि-सुनि सुजस रावरौ तुव ढिग, आवन कौं ललचाहीं।
नाम धरैं तुमकौं जगमोहन,* मोह न तुमकौं आवै ;
करुनानिधि तुव हृदे न एकौ, करुना विन्दु-समावै।
लेति एकु कौ, देति दूसरे, दानी बनि जग माँही ;
ऐसौ हेर फेर नित नूतन, लाग्यौ रहत सदाँही।
भाँति-भाँति के गोपिन के जो, तुम प्रभु चीर चुराए ;
अति उदारता सौं लै वेही, द्रोपदि कौं पकराए।
रतनाकर कौं मथत सुधा कौ, कलस आप जो पायौ ;
मंद-मंद मुसिकात मनोहर, सो देवन कौं प्यायो।
मत्त गयद कुवलिया के जो खेल प्रान हरि लीने ;
बड़ी दया दरसाइ दयानिधि ! सो गजेन्द्र कौं दीने ;
करि कैं निधन वालि, रावन कौ, राज-पाट जो आयौ ;
तहँ सुग्रीव, विभीषन कौं करि, अति अहसान बिठायौ।

* मोहन शब्द पर किसी कवि की एक शरूर भरी सवैया याद आ गयी है; पर है कोई आधुनिक कवि। यथा—

राते रहे रंगराते कहूँ, अँगराति कहा उठि प्रातहि धाए,
लोचन लाल, भए कस लाल, कपोलन पीक की लीक लगाए।
अंजन आँज्यौ कहाँ अधरानु मैं, भाल महावर कैसे सुहाए ;
मोद न लाए तवैं मन मैं, अब का मन-मोहन मोहन आए।

पौंडरीक कौ सर्वनास करि, माल-मता सब लीयौ ;
ता कौं बिप्र सुदामा के सिर, करि सनेह मढि दीयौ ।

अस्तु—

ऐसी "तूंमा पलटि" के गुन "नेति-नेति" स्तुति गावैं ,
सेस, महेस, सुरेस, गनेस हु, सहसा पार न पावैं ।

और—

इत माया अगाध सागर तुम, डोवहु भारत-नैया ,
रचि महाभारत कहूँ लरावत, अपु मैं भैया-भैया ।

अतएव—

या कारन जग मैं प्रसिद्ध अति "निवटी-रकम" कहाऔ ,
वड़े वड़े तुम "मठा धुँआरे", क्यौ साँची खुलवाऔ ।

और लो ! माखन-चोर, चीर-चोर और चित-चोर के अनन्तर आपकी अन्य चोरियों का पता लगा कर, आधुनिक कवि "गंगाशरण जी शर्मा" शील ने "चौराष्टक" ही विरच डाला । देखिये न, यथा—

आदौ बकीप्राणमलौघचौरं ,
बाल्ये प्रसिद्धं नवनीत चौरम् ;
ब्रजे चरन्तञ्च मृदोहि चौरं ,
चौराधिपं कृष्णमहं नमामि ।

विधेः सुरेन्द्रस्य च गर्व चौरं ,
गोगोपगोपीजनचित्त चौरम् ;
श्रीराधिकाया हृदयस्य चौरं ,
चौराधिपं कृष्णमहं नमामि ।

नागाधिरजस्य विपस्य चौरं,
श्री सूर्यकन्याखिलकष्ट चौरम्;
गोपीजनान्नानदुकूल चौरं,
चौराधिपं कृष्णमहं नमामि।

वत्सासुरादेर्वलमान चौरं,
पित्रोस्तथा बन्धनदुःखचौरम्;
कुब्जार्चनव्याजमनोज चौरं,
चौराधिपं कृष्णमहं नमामि।

निशाचराणामथ जीव चौरं,
जीवात्मनः कल्मपसंघ चौरं;
उपासकानाञ्च विपत्ति चौरं।
चौराधिपं कृष्णमहं नमामि।

सुहृत्सुदाम्नोश्च धनत्वचौरं,
शोकस्यगत्वा विदुरस्य चौरं;
कृष्णापटाकर्षकगर्व चौरं,
चौराधिप कृष्णमहं नमामि।

युद्धेहिपार्थस्य विमोह चौरं,
पुरःस्थितानाञ्च बलस्य चौरं;
दिने च मायावलसूर्य चौरं,
चौराधिपं कृष्णमहं नमामि।

चित्तस्य, शीतस्य, जनस्य चौरं,
अनेक जन्मार्जितपाप चौरम्;
दास्यङ्गतानाञ्च समस्त चौरं,
चौराधिपं कृष्णमहं नमामि।

श्रीमान्! अब कुछ अपनी वीरता* की बड़ाई भी सुन लीजिये। लोक और वेद में प्रसिद्ध है कि—रमणी पर हाथ उठाना, स्त्री पर फुँफकारना, कायरता की कालिख भरी काली करतूत है—वीरता के बिलकुल विपरीत है, लेकिन आपने इस लोक और वेद—विरुद्ध बात को कुछ न माना। अस्तु, मुनिवर विश्वामित्र जी के साथ यज्ञ रक्षार्थ जाते समय, "ताड़िका को मार" † कर अपनी अनुपम मर्दानगी का क्या नमूना—कैसा सुन्दर डिजाइन उपस्थित कर दिया वाह, और पुनः—

"हम पितु बचन मानि, बन आए" ‡

—तुलसीदास

—वाला कमनीय कारण दिखलाते हुए सूपनखा को नकटी

* भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी ने आपकी सूरता के डूबने का, बड़ा सुन्दर कथन किया है। जैसे कि—

सूरता अपनी सबै डुबाई;
हमसे महा हीन किंकर सौं, करिकैं नाथ! लराई।
दयानिधान, छमासागर प्रभु! बिदित नाम कहवाई,
हमरे अघहिं देखि तुम प्यारे! कीरति सबै मिटाई।
कबहुँ न नाथ कृपा सौं मेरे, अघ ह्वै हैं अधिकाई,
तौ किन तारि हीन "हरिचंद" हिं, मैंटत जगत-हँसाई।

† चले जात मुनि दीन्ह दिखाई, सुनि ताड़िका क्रोध करि धाई।
एकहिं बान, प्रान हर लीन्हा, दीन जानि तेहिं निज पद दीन्हा।

—रामचरितमानस

‡ नियोगात्तु नरेन्द्रस्य, पितुर्मातुश्च यन्त्रितः;
धर्मार्थं, धर्मकांक्षी च वनं वस्तुमिहागतः।

सूची बनवा॰ वीरता का ढोल पीट दिया और बे-बात की रार मोल ले ली—नाहक तकरार का तकादा कर दिया ! वाह—

"ऊँट चढ़े पर कूकर काटै",

॰

जापर हरि कहुँ कतहुँ रिसाहीं,
ताहि निरापद थल कहुँ नाही।
बुधि-बल तासु सकल विधि-घाटै,
"ऊँट चढ़े पर कूकर काटै"

—लोकोक्ति

—इसे ही तो कहते हैं। श्रीमान् ! जाने दो इन सब बातों को, क्योंकि यह सब आपके पूर्व जन्म की जल्पना है; अरे ! आपने तो द्वितीय जन्म में भी यहाँ—

"पै प्यावत प्रानन हरे, पुतना बाल चरित्र"

—नंददास

—का उज्ज्वल उदाहरण उपस्थित कर दिया ? बाल-चरित्र से ही अपनी अनुपमेय वीरता का विपुल दरया बहा दिया ? सोने में सुगन्ध सरसा दी, अथवा सीधे सादे शब्दों मे यों कहिये कि—करेले मे, नीम और गिलोय के सत से रञ्जित रमणीय मसाले को

॰ इमा विरूपामसती मतिमत्तां महोदरीम्;
राक्षसी पुरुषव्याघ्र विरूपयितुमर्हसि।
इत्युक्तो लक्ष्मणस्तस्याः क्रुद्धोरामस्य पश्यतः,
उद्धृत्य खड्गं चिच्छेद कर्णनासे महाबलः।

—वाल्मीकि रामायणे

भर दिया। अस्तु, "नंददास" जी ने आप के जन्मजन्मान्तर की अपूर्व वीरताओं का, गोपियों द्वारा भ्रमर प्रति उपालम्भ (भ्रमर-गीत) के सहारे बड़ा सुन्दर खाका खींचा है। देखिये-देखिये! कि—

कहन लगीं अहो स्याम! कहा इतराइ गए हौ;
मथुरा कौ अधिकार पाइ, महाराज भए हौ।
ऐसै कछु प्रभुता अहो? जानत कोऊ नाहि;
अबला-बधि सुनि डर गए, बली जगत जे ऑहि।
पराक्रम जानि कैं॥

कोऊ कहै अहो स्याम! चँहत मारन जो ऐसै;
गोबरधन कर धारि, करी रच्छा तुम कैसै।
व्याल-अनल विष-ज्वालि तै, राखि लई सब ठौर;
बिरह-अनल अब दहतु हौ, हो हँसि हँसि नंदकिसोर।
चोरि चित लै गयौ॥

कोऊ कहैं, ए निठुर, इन्है पातक नहि ब्यापै;
पाप पुन्न के करन हार, ए आपहि आपै।
इनके निरदै रूप मैं, नाहिन कोउ विचित्र;
पै प्यावत प्रानन हने, पुतना बाल-चरित्र।
मीत ए कौन के॥

कोऊ कहै री! आजु नाहिं, आगैं चलि आई;
रामचंद के रूप माँहि, कीन्ही कुटिलाई।
जग्य करावन जात हे, बिस्वामित्र समीप;
मग मै मारी तारिका, रघुबंसी कुल-दीप।
बाल ही रीति इहि॥

कोऊ कहै, ए परम धरम, इस्त्री जित पूरे;
लछ लाघव संधान धरैं, आयुध के सूरे।

सीता जू के कहे तैं, सूपनखा पै कोपि ;
छेदे अंग विरूप करि, लोगनि लज्जा लोपि ।
कहा ताकी कथा ॥

कोऊ कहै री सुनौ ? और गुन इनके आली ?
बलि राजा पै गए भूमि माँगन वनमाली ।
माँगत बामन रूप धरि, परवत भए अकाइ ;
सत्त, धरम सब छाँड़ि कै, धर्यौ पीठ पै पाँइ ।
लोभ की नाव ए ॥

कोऊ कहै, इन परसुराम ह्वै माता मारी ;
फरसा कंधा धारि, भूमि छत्रिन संघारी ।
स्रोनित-कुंड भराइकैं, पोखे अपने पित्र ;
तिनके निरदै रूप मैं, नाहिंन कोऊ चित्र ।
विलग कहा मानिएँ ॥

कोऊ कहै अहो ? कहा हिरनकस्यप तैं बिगर्यौ ;
परम ढीठ प्रहलाद, पिता के सन्मुख झगर्यौ ।
सुत अपने कौं देत हो, सिच्छा, दंड बधाइ ;
इन बपु धरि नरसिंघ कौ, नखन बिदार्यौ जाइ !
बिनाँ अपराध ही ॥

कोऊ कहै सखि ! कहा दोष सिसुपाल नरेसहिं ;
ब्याह करन कौं गयौ, नृपति भीषम के देसहि ।
दल-बल जोरि बरात कौं, ठाढ़ौ हो छवि बाढ़ि ;
इन छल करि दुलही हरी, छुधित ग्रास मुख काढ़ि ।
आपने स्वारथी ॥

श्री शुक ने भी परीक्षित-सन्मुख, आपकी कुछ ऐसे ही शरूर भरी सरारत से सम्पन्न सूरता का केवल एक ही श्लोक में अनुपमता के साथ उल्लेख किया है । यथा—

मृगयुरिव कपीन्द्रं विव्यधे लुब्धधर्मा,
स्त्रियमकृत विरूपां स्त्रीजितः कामयानाम्;
बलिमपि बलिमत्त्वाऽवेष्टयद्ध्वाङ्क्षवद्य—
स्तदलमसितसख्यैर्दुस्त्यजस्तत्कथार्थः ।

—श्रीमद्भागवत १०।४७।१७

अर्थात्—जनाब ! यह आपका निठुरता नियुक्ति स्वरूप, अथवा विषरस से परिप्लावित रूप, आज ही निर्दयता नियुक्त नहीं है, अपितु पूर्व से ही निष्ठुरता निनादित अभिनव स्वरूप है। भला, कहिये तो रामचन्द्रावतार मे व्याधि की तरह निष्ठुर बन बेचारे बालि को ख्वामख्वा बध—मार डाला, और "स्व-रति-तीय" के बस हो सूपनखा को नाँक-कान काट कर सुन्दर स्वरूपवती बना डाला, वाह, खूब किया, कहिये कहिये ! उसका क्या कसूर था ? यही न कि—

तानहं समति क्रान्ता राम ! त्वापूर्वदर्शनात्;
समुपेतास्मि भावेन, भर्तारं पुरुषोत्तमम्।
अहं प्रभावसंपन्ना स्वच्छन्दबलगामिनी;
चिराय भव भर्त्ता मे सीतया किं करिष्यसि।
विकृता च विरूपा च न सेयं सदृशी तव;
अहमेवानुरूपा ते भार्यारूपेण पश्यमाम्।

—राम ! मैं उन सब से बड़ी और बलवती हूँ, तुम्हारे प्रथम दर्शन से ही मैं तुम पर आसक्त हो गयी हूँ, अतः हे पुरुष-श्रेष्ठ ! मैं, तुम में पति-भाव से प्रभावित होकर अर्थात् तुमको पतिरूप से वरण करने के कोमल अभिप्राय से तुम्हारे पास आयी हूँ। राम ! मैं तेजस्विनी हूँ यानी अपने स्वाधीन बल से सर्वत्र विचरण करती हूँ अस्तु सदा के लिये तुम मेरे पति बन जाओ (इस) सीता को

लेकर क्या करोगे ? यह (सीता) विकृत और विरूप है अतएव तुम्हारे योग्य नहीं है, मैं ही तुम्हारे योग्य हूँ, इसलिये मुझे ही स्त्री समझो—अर्थात् मुझे ही स्त्री रूप से स्वीकार कर लो और इसे त्याग दो। आदि—आदि...।

❀

तुम सम पुरुष न मो सम नारी, यह सँजोग बिधि रचा बिचारी।
मम अनुरूप पुरुष जग माहीं, देखिउ खोज लोक तिहुँ नाहीं।
ता तें अब लगि रहेउ कुमारी, मन माना कछु तुम्है निहारी।

—तुलसीदास

—अस्तु, इतने ही कसूर पर—तनक अपराध पर ही, इस जरा से दोष पर ही इतनी सजा, तुम्हारे मन-हरन मनोहर स्वरूप का पतंग बनने का यह प्रख्यात पारितोषिक—वाह, श्यामसुन्दर ! आपके इस काले कलूटे रँग में तो यह कमनीय करामात थी—साँवली सूरत मे तो यह अनोखा अन्दाज था कि सूपनखा जैसी सुन्दरियाँ मायल हो, फिदा हो, सीने से लगने को तड़पती और कहतीं कि—

आह, देखते ही हो गई मायल,
मोहनी थी मुए के काजल मे।

—जान साहब

श्रीमान् ! सच बात तो यह है—इसे लगी लपेटे की न समझियेगा क्योंकि आपके—

हुस्न से बेहतर नहीं जादू कोई,
हुस्न से बढ़कर कोई अफसूं नहीं।

—कोई शायर

—लेकिन दादा ! "कुबड़ी" कहाँ की कमनीय कामनी, कहाँ की खूबसूरत व किस परिस्तान की परी-पैकर थी; जिसकी कि—लावण्य लता में उलझकर, उसकी सौन्दर्य-सरिता के कूबड़ रूप कूल में ऐसे विरमे कि क्या कहा जाय ! और फिर उसके उद्दाम हृदय की कुछ ऐसी ही, यानी "सूपनखा" जैसी ही अतुल आकांक्षा थी कि—

दास्यास्म्यहं सुन्दर कंस संमता
त्रिविक्रनामा ह्यनुलेप कर्मणि ;
मद्भावितं भोजपतेरति प्रियं—
विना युवां कोऽन्यतमस्तदर्हति ।

अथवा—

एहि वीर ! गृहं यामो न त्वां त्यक्तुमिहोत्सहे ,
त्वयोन्मथितचित्तायाः प्रसीद पुरुषर्षभ !

—श्रीमद्भागवत १०।४२।२,

अर्थात्—हे वीर ! आप मेरे गृह (घर) पधारिये क्योंकि आपकी सुन्दर रूप राशि निरखकर (आपको) छोड़ने को जी नहीं चाहता और हे पुरुष-श्रेष्ठ ! तुमने मेरे मन को चलायमान किया है अतः मुझ पर प्रसन्न होकर मेरे भवन पधारिये, पधारिये ! क्योंकि—

बिजलियाँ देखने वालों मे गिराते आये ;
तुम जिधर आये, उधर आग लगाते आये । —कोई शायर

—और भैया ! साथ ही साथ "कुब्जा" के अपनाने पर उन परित्यक्ता प्रेयसियों की तबीयत तड़पा देनेवाली एक तानेजनी भी सुन लो ! कुब्जा को रानी बनाने पर एक चित में चुभनेवाली फड़कीली फब्ती भी सुन लो, जो कि उद्धव के व्रज भेजे जाने पर दीक्षान्त-भाषण-स्वरूप कही थी कि—

उद्धव ! एकु सँदेसौ यहै, कहि देउ तौ बात सयानी करौ ,
कूबरी कौं ठकुरानी करी तौ भलै अपनी मनमानी करौ ।
पै "कवि ग्वाल" मुनासिब और हूँ, सोहू जरूर प्रमानी करौ ,
लाँगुरी, लुलिन, आँधरी, कानिन, रानिनि मैं पटरानी करौ ।

हाँ हाँ साहब ! जरूर, जरूर, जब कुब्जा को रानीत्व का रमणीय पद प्रदान किया गया—कूबड़ी को कामिनी बना कर कलेजे से लटका लिया, तो लँगड़ी, लूली, अँधी और कानी कामनियों ने ही क्या अपराध किया है जो कि पटरानियों के प्रमुख पद से वंचित रखी जाय।

रकीबे-रू-सियह बैठा है उस गुलरू के पहलू मे ,
खुदा की शान है, फूलो मे कॉटा हो ही जाता है ।

—गालिब

हाँ तो—

"मृगयुखि कपिन्द्रं, विव्यधे लुब्ध धर्मा ,
स्त्रियमकृत विरूपां स्त्रीजितः कामयानाम् ।
बलिमपि बलिमत्वाऽवेष्टयद् ध्वांक्षवद्य ,
स्तदलमसितसख्यैर्दुस्त्यजस्तत्कथार्थः ।

अर्थात्—

निठुर बनि बधौ है, व्याध ज्यौ बालिही कौं ;
स्व-रत-तिय, कुरूपा कीन्ह स्त्री के बसी हो ।
वलि नृप वलि हू लै काक ज्यौं पाश दी है ;
तजि सकॅ न कथा, पै श्याम-प्रीती बुरी है ।

—कन्हैयालाल पोद्दार

अस्तु—

चरित सब निरदै नाथ ! तिहारे ;
देखि दुखी जन उठि क्नि धावत, लावत कितहि अबारे ।

मॉनी हम सब भाँति पतित अति, तुम दयालु तौ प्यारे !
"हरीचंद" ऐसहिं करनी हीं, तौ क्यौं अधम उधारे।

भगवन् ! और लो, हमारे विहारीलाल जी तो आपके "बलि-वामन" वाले विपरीत व्यवहार को देखकर तुम्हें अब आगे से किसी को न "पत्याने" का—विश्वास करने का, "पारितोषिक" वितरण करते हुए—इश्तिहार साया कर कहते हैं कि—

छ्वै छिगुनी पहुँचौ गिलत, अति दीनता दिखाइ,
बलि-बामन कौ ब्यौतु सुनि, को बलि तुम्हैं पत्याइ।*

अत्यन्त दीनता दिखाकर छिगुनी पकड़ते-पकड़ते पहुँचा पकड़ लेना, आपकी मामूली बात है अस्तु बलि-बामन-वृतान्त सुनकर भी बलिहारी जाऊँ आपको कौन पतियाये—तुम्हारा कौन विश्वास करे ? क्योंकि—

ज़रा छिगुनी को छू पहुँचा पकड़ते हो बलाचारी,
भला पतयाय अब सुन कौन बल-बामन की ऐयारी।
—देवीप्रसाद 'प्रीतम'

अथवा—

निहितार्धलोचनायास्त्वं तस्या हरसि हृदयपर्यन्तम्;
न सुभग समुचितमीदृशमङ्गुलिदाने भुजं गिलसि।
—आर्या सप्तसती

अजी सरकार ! आधी-आधी नजरों से कहीं तुम्हें उसने देख

* "को बलि तुम्हैं पत्याइ", कथा सुनि बलि-बामन की,
तीन पॉव तैं जगत नॉपि, कीनी निज मन की।
धरे मच्छ अवतार, बडे ही वड़े गये है,
"सुकवि" गहत हौ हाथ नाथ ! पहिलैं छिगुनि छ्वै।

लिया है, नज़र भर कर भी नहीं केवल आधी नज़रों से ? अस्तु इतने पर ही आप उसके नौनिहाल हृदय तक को कब्जे में करना चाहते हो ? हे सुभग ! उँगली पकड़ कर पहुँचे को पकड़ते हो, यह ठीक नहीं ?

जोशे-जनूं रंग लाने लगा ;
गरेबाँ तक अब हाथ आने लगा ।

प्यारे ! अपने बल-विक्रम की अकथ-कथा और सुनो ! यानी—जरासन्ध ने मथुरा के साथ-साथ जब आपको भी चारों ओर से घेर लिया, तो श्रीमान् को भागते ही बन पड़ा और छिपते छिपते ऐसे भागे कि पीछे फिरकर भी न देखा तथा कालयमन को लिये-दिये कन्दिरा में सुषुप्त मुचुकुन्द द्वारा उसे (कालयमन) भस्मीभूत करा समन्दर के अन्दर अपनी बसायी हुई द्वारिका में ही दिखाई दिये । जैसे कि—

पित्रे मागधराजाय, जरासंधाय दुःखिते ;
वेदयांचक्रतुः सर्वमात्मवैधव्यकारणम् ।

सतदप्रियमाकर्ण्य शोकामर्षयुतो नृप ;
अपादवीं महीं कर्तुं चक्रे परममुद्यमम् ।

अक्षौहिणीभिर्विंशत्या तिसृभिश्चापि संवृतः ;
यदुराजधानीं मथुरां न्यरुणत्सर्वतोदिशम् ।

अष्टादशमसंग्राम आगमिनि तदनन्तरा ;
नारदप्रेषितो वीरो यवनः प्रत्यदृश्यत ।

रुरोध मथुरामेत्य तिसृभिर्म्लेच्छकोटिभिः ,
नृलोके चाप्रतिद्वन्द्वो वृष्णीन्श्रुत्वात्मसंमितान् ।

इति समंन्त्र्य भगवान्दुर्गं द्वादशयोजनम् ;
अन्तः समुद्रे नगरं कृत्स्नाद्भुतमचीकरत् ।

पलायनं यदुकुले जातस्य तव नोचितम् ;
इति क्षिपन्ननुगतो नैनं प्रापाहताशुभः ।

स इक्ष्वाकुकुले जातो मान्धातृतनयो महान् ;
मुचुकुन्द इति ख्यातो ब्रह्मण्यः सत्यसंगरः ।

विहाय वित्तं प्रचुरमभीतौ भीरुभीतवत् ,
पद्भ्यां पद्मपलाशाभ्यां चेलतुर्बहुयोजनम् ।

पलायमानौ तौ दृष्ट्वा मागधः प्रहसन्बली ,
अन्वधावद्रथानीकैरीशयोरप्रमाणवित् ।

—अतः आपकी इस कमनीय करतूत की पुनीत यादगार में अब तक लोग-बाग (आपको) "रणछोड़" नाम से पुकारते हैं—याद करते है । जैसे—

छैल छबीलौ प्यारौ श्री रणछोड़ ;
भूपति जीति जु ल्याया रुक्मिणी, सिसुपाल भग्यौ मुख-मोड़ ।
उग्रसैंन को राज करावत, जादव छप्पन करोड़ ;
बसुदेव देवकी के तुम जीवन, "बल्लभ" कहे कर-जोड़ ।

—और ढीठ दुर्योधन ने तो इस मीठे नाम—"रणछोड़" पर वह मधुर मजाक उड़ाया था कि दिल आज भी उसे पढ़कर बाग-बाग हो जाता है । देखिये न, कैसी तबीयत तड़फा देनेवाली शब्द-योजना के सहारे कहता है कि—

जादौन कौ मान मारि, किरीटी सुभद्रा लै भगौ,
तुमनै निहोर्‍यौ तैसैं हौ तौ ना निहोरि हौं ;

बैर-बाँधि करैं प्रीति, राज-नीति की न रीति,
सत्रु सैंन-नाव सिन्धु-आहव मैं बोरि हौं।
मेरी या गदा तैं जमराज-लोक वृद्धि पै है,
भीमादिक सूरन के कंधन कौ तोरि हौ;
छोरि हौ न टेक एक कहिऐ अनेक मेरौ—
नाम "रंछोर" नाहि, कैसैं रन-छोरि हौं।

—स्वरुपदास, पाँडवयशेन्दुचन्द्रिका

अरे! आपके बल-पराक्रम का पुनीत पचड़ा एक और याद आ गया, यद्यपि आपकी सम्पूर्ण वीरता अवलाओं पर ही अत्याचार करने में अलंकृत है, जोड़-तोड़ वाले से तो भागते ही नजर आते हो, जैसे कि—

छाँड़ि सबै जु गए मथुरा, कुबरी तहँ जाइ करी पटरानी,
जो सुधि लीन्हीं तौ जोग सिखायौ, भए "हरिचंद" अनूपम ज्ञानी।
गोप सौं जौ पै भए रजपूत, लडौ किन जोड़ कौ आपुने जानी,
मारत हो अवला गन कौ तुम! याही मै वीरता आइ खुटानी।

—तथापि, अपनी इस वीर-गाथा को सुन लीजिये? भैया! बात कुछ पुरानी होते हुए आज नयी से भी ज्यादह मजा दे रही है—अपने ललित लुत्फ़ से आज भी बरबस हृदय मे घर कर रही है। हाँ तो, "विदेही" के विवाह के समय "जनकपुर" की बर-बालाओं ने "श्री सिया जी" के कर कमल से "विवाह-कङ्कण" खोलने की आजिज भरी आरज़ू की—इस्तदुआ की, अतएव आप उसे खोलने को कमर-कस उद्यत हुए तो "कर कमल" काँपने लगा, पसीना चूने लगा। सारी बहादुरी चंपत और शरूर भरी शेखी हवा हो गयी, अतः उस सुन्दर समय उन प्रेम-रँगीली रमणियों ने क्याही सरस—

"प्रेम लपेटे अटपटे"

—व्यङ्ग-वचनों द्वारा कुछ अजब आल्हादकारी मीठे हास-परिहास के साथ पूँछा कि—

"नाथ ! कैसैं गज कौ फंद छुड़ाए";
हँसि पूँछै जनकपुर की नारि, नाथ ! कैसैं गज कौ फंद छुड़ाए।
छोरैं छूटै ना सिया जू कौ कँगना, कैसै चाँप चढाए;
कौमल गात, अंग अति नीकौ, देखति मनहिं लुभाए।

❀

नाथ ! कैसै गज कौ फंद छुड़ाए ;
हँसि पूँछै जनकपुर की नारि, नाथ ! कैसै गज कौ फंद छुड़ाए।
तिहारे येही अचरज मन भाए, नाथ ! कैसै गज कौ फंद छुड़ाए ;
गज औ ग्राह लरे जल-भीतर, दारुन दुद मचाए।
गज की टेरि सुनी रघुनंदन ! गरुड-छोरि उठि धाए ;
भिलनी के बेर, सुदामा के तन्दुल, साग बिदुर-घर पाए।
इन्द्र नै कोप कियौ ब्रज-ऊपर, छिन मै वारि बहाए ;
गोवरधन छट नख पै लीनौ, इन्द्र कौ मान घटाए।
अरजुन के स्वारथ रथ हाँक्यौ, गीता मैं गुन गाए ;
भारत मै भरही के अन्डा, घन्टा तोरि बचाए।
लै प्रहलाद खंभ सौं बाँध्यौ, राजन त्रास दिखाए,
जन अपने की राखि प्रतिज्ञा, नरसिंघ रूप बनाए।
"छोरै छूटै ना सिया जू कँगना, कैसै चाँप चढ़ाए" ;
कौमल गात, अंग अति नींकौ, देखत मनहि लुभाए।
जहँ-जहँ भीर परत सन्तन पै, तहँ-तहँ होति सहाए ;
"तुलसीदास" सेवक रघुनंदन, आनँद मंगल गाए।

—और यही दर-गुजस्त हालत यहाँ (कृष्णावतार में) भी

हुयी। यहाँ भी उन प्रेम गर्वीली-गूजरियों ने "श्री वृषभानु की ललित-लली" की कमनीय कलाई, कैसी कि—

चुरियानहूँ मैं चपि चूर भयौ, दबि छंद पछेलिन घाँई कहूँ ;
मनु मैंन कुँभार सु कंचन की, मृतिका लै सुसंत्रि बनाई कहूँ।
"हरि सेबक" ज्यायौ चहै तौ सुनै, जदि सौंधी सुधा जिय ज्याई कहूँ ;
लखि पाई कलाई तेरी जब तै, तब तै किहु कौं न कल आई कहूँ।

अथवा—

दीठि परी नँद-लालै कहूँ, वृषभानु-लली की सु एकु कलाई ;
ता छिन तै तजि खान औ पान, सु हाइ ही हाइ यहै जकि लाई।
ऐसी दसा लखि कैं उनकी, समुझायौ रसीले तबौ न कल आई ;
घूमत है ब्रज बीथिन मै, रट लाइ रहे हैं कलाई, कलाई।

अथवा—

सुन्दर सूधी, सुगोल रची बिधि, कोमलता अति ही सरसात है ;
त्यौ "हरिऔध" जराब जरे, खरे कंकन कंचन के दरसात है।
चूरी हरी बिलसैं जिहि मैं, तिहि देखि हियो सबकौ हुलसात है ;
ऐसी कलाई लखै बिकलाई भई कल आई नही दिन रात है।

अब जरा "शीतल" जी से भी उस—"नहिं कल आई, दिलवर की देखि कलाई" की हथेलियाँ, उँगली और नाखूनों का नजाकत भरा वर्णन सुन लो ? यथा—

गिरदाव चन्द्र का गोल किया, या मैंन भूप की केली है ;
या कमल-कर्णिका-गिर्द पुंज, यह भी उपमा सब पेली है।
दिल समझ-समझ चुप होता है, कविता की दिलवर वेली है ;
मो मन मतंग के फँसने को, जानी की सुघड़ हथेली है।

❀

कै पचबाण की पंच कला, कै पारिजात की कलियाँ हैं ;
कै अरुण-रुली दल दाड़िम की, तिनकी उपमा दलमड़ियाँ हैं।

कंचन सरोज के दल पाँचौ, कै साँचे की सी ढलियाँ है ;
जानी की क्या ही अति–' शीतल", अँगुली चम्पे की कलियाँ है ।

अथवा—

दल शरद-कंज के पाँच खिले, दिलवर! दाड़िम की कलियाँ सी ;
कै पंचवाण के तरकश की, पाँचौ कोरें रस रलियाँ सी ।
कै पंच-शक्ति-कंजासन से, ये कढ़ी रमा की रलियाँ सी ;
अँगुली पाँचौ रस-भीनी की, ये मदन-त्राण की कलियाँ सी ।

❀

नग चुन्नी चौके जड़े हुए, चम्पक-दल मंगल वैठे बन ;
या पंचवाण ने तीरों की, नोंकों पर राखे आछे मन ।
नख लाल पियारी के "शीतल", क्या शरद चन्द्र केसे कन ;
या विमल कंज की कलियों पर, जानी चढ़ि आये तारागन ।

अँगुलियों पर "केशवदास" की करामात भी देखिये जैसे कि—

गोरी-गोरी आँगुरिन राते से रुचिर नख—
और अति पैने-पैने रचि रुचि कीने है ;
रति-जन्त्र लिखिवे की लेखिनी सुरेख किधौं,
मीन-रथ-सारथी के नोदन नवीने है ।
किधौ "केसौदास" पंच बान जू के पाँचौ-बान,
सकल भुवन जिहि बसि करि दीने हैं ;
कंचन कलित मनि मूंदरी ललित मानौं—
लच्छ बेधि बिषिखनि कंठ राखि लीने है ।

❀

मौंहन, सीखन, बसि करन, उनमादन, उचटाइ ;
मदन-सदन-गुन तरुनि के, अँगुरिन लयौ छिनाइ ।

—रसलीन ।

—और "पोरुवों" का सरस वर्णन "सैयद गुलाम नबी" (रसलीन) से सुनिये। देखिये, कैसा सरसपूर्ण वर्णन करते हुये कहते हैं कि—

तिय प्रति अँगुरिन-फलन मैं, त्रय-त्रय पोर सुहाइ ;
तीन लोक बसि करनि कौ, बीज बए हैं आइ।

यह तो बिना आभूषण से भूषित कलेजे को कुचलने वाली कमनीय कलाई और उसके अन्य-अवयवो की दुहाई हुई। अब मेंहदी के साथ विविध आभूपणो की तारीफ भी सुन लीजिये ? अस्तु, पहिले मेहदी ही देखिये। यथा—

बारह मंगल-रासि-गुन, सोई मिलि सब आइ ;
उभै हथेरिन, दस नखन, मैहदी भए बनाइ।

अथवा—

दीप्त हथेरिन की दिपत, यौं मैंहदी के संग ;
लाली साँवन साँझि मौं, ज्यौं सूरज कौ रंग।

अथवा—

यौं मैहदी-रँग मैं लसत, नखन झलक "रसलीन" ;
मानौं लाल चुनीन तर, दीनौ डाँक नबीन।

कविवर "शम्भु जी" भी कहते हैं कि—

लाड़िली के कर की मैहदी, छबि छाजत कही नहिं "सभु" हु जू पर ;
भूलि हूँ जाहि बिलोकति ही, गढ़ि गाडै रहै अति ही दृग दू पर।
इन्द्र-बधू बटके टटके, दल, बैठी बिछाइ ज्यौ कंचन-भू पर ;
बाँधी मनौ रँगरेज मनोज, सु चूनरी नीरज-पात के ऊपर।

अथवा—

पंकज पर बीरबधू बैठीं, उपमा लखि होजा कुन्द कहीं,
कै शरद-कमल-दल पर विद्रुम, देखि छुटै दुख-दुन्द कहीं।

कै पंकज-दल पर चुन्नी सी, वरणें मति रहु मुख मुन्द कहीं,
कुन्दन पर माणिक जड़े हुए, जानी मिहँदी के बुन्द कही।

पहुँची—

लालन के मन-दगन कौ, रहै चौप प्रति आँन,
पहुँची बनि पहुँचौ कभू, प्यारी के पहुँचॉन। ॐ

कड़े—

क्या कमल-नाल मे विजली सी, जानी उपमा ये अड़े नहीं,
कुन्दन के शेरदहाँ सुन्दर, ऊपर ज़ालिम नग जड़े कही।
मालूम हुआ दिल मेरे मे, वे महा तौक़ हो पड़े कही;
इस प्यारी के प्यारे "शीतल", देखे है तूने कड़े कही।

चूड़ी—

रंग-बिरंग चूरी नही, लखि रवि कंकन भेखु;
हरि सन विनय बली मनौ, कर परसन परबेखु।

गजरा—

तुव गजरा के फौंदना, मनि-गन की दुति पाइ;
चित-चोरत है जगत कौ, अनगन-दीप जराइ।

आरसी—

जटित आरसी कीर्तिका, सोहत अँगुठा साथ;
छले नखत जो अवर तैं, छले बने है हाथ।

—रसलीन

ॐ "पहुँची" पर शीतल जी क्या कहते हैं। सुनिये न! यथा—

चम्पक-दल-कली अँगुलियों की, यह भी उपमा सब जीरन की;
नख चमकें ललित सितारे से, छवि हीन जलज अरु हीरन की।
मिहँदी के रँगे हुए पोरे, दुति पंच-बान के तीरन की;
झमकावे खड़ा हुआ "पहुँची", ले तेरी जरब जँजीरन की।

—हाँ तो, "श्री वृषभानु जी की ललित कुमारी की माखन से भी कोमल कमनीय कलाई से कंकण खेलने को कहा गया तो" उस (खोलते) समय भी सारा बल-पराक्रम फुर्र हो गया—छलिया का छबि भरा सारा छल-छंदपना* अथवा छलबल, जरा भी काम न आया? फिर क्या था "जनकपुर की बर बालाओ जैसी सुमधुर यहाँ भी फटकार पर फटकार पड़ने लगी। जैसे कि—

न छूटै मोहन! डोरना हो, कसि बाँध्यौ है प्यारी जू के पानि।
प्रथम ब्याह-बिधि ह्वै रही हो, कर कंकन चारु बिचारी;
हँसि हँसि, कसि-कसि ग्रन्थि बनावति, नबल-निपुन ब्रज-नारी।
बड़े होहु तब खोलियो हो, सुनौ घोष के राइ;
कर जोरौ, हा-हा करौ, कै छुवौ कुंवरि के पाँइ।
यह न होइ गिरिबर कौ धरनौ, सुनौ हो गोपीनाथ;
बहुत कहाबत हे अपने कौ, बस काँपन लागे हाथ।
सहज सिथिल कर-पल्लव हि, पकरौ क्यौं न सँवार;
किलकि हँसी सखि स्याम लखि, अब छोरौ हो सुकुमार।
तुम किन करौ उपाय सखी हो, छाँडौ अधिक सयानु;
छोरन देहु कुँवरि कौ कंकन, कै बोलौ बृपभानु।
कमल कमल कर बरनियो, पानि प्रिया के लाल,
अब कबि-कुल साँचे भए, तब भए कटीले नाल।

* छवि से भरे "छल-छंदपने" पर "रसिक विहारी का एक सुन्दर पद याद आ गया है। यथा—

जाण्यॉ जाण्याँ रे हो। लोभी थारा छिछंदपणाँ;
नैण लगाइ, दिखाइ दया सी, लैर उदासी मकर-घणाँ।
यों वातों पल पल कुँण पड़पै, बोलौ छौ सुण झूठ तणाँ,
"रसिक विहारी" नॉव कहावौ सोभा पावौ छौ जी राज, या लखणाँ।

ज्यौं-ज्यौं छूटै डोरना, त्यौं बढै प्रेम की डोर ;
देखि दुहुँन की रीति सखीरी ! हँसति सबै सुख-मोर।
लीला ललित मुकुन्द चंद की, करौ रसिक रस पान ;
यह जोरी अबचल वृन्दावन, बलि-बलि "दास कल्यान"।

—वर्पोत्सव

अथवा—

फूल हू कौ कँगना नहि छूटत, कैसे हौ बलबीर ;
जानि परी सब आजु आपकी, नामहि के रनधीर।
दूध पिवायौ जसुदा मैया, जा दिन कौ सो आयो ;
चोरि-चोरि कै माँखन खायौ, सो बल कहाँ गमायौ।
तारी दै-दै हँसी सखी सब, आजु परी हम जानी ;
सुनि कैं तिनकी बात दुलैहिया, घूंघट मैं मुसिक्यानी।
कोटि जतन कोऊ करि हारौ, लगी लगन नहि छूटै ;
"हरीचंद" यह प्रेम-डोरनाँ, सो कैसै करि टूटै।

अजी, जाने भी दीजिये इन बातों को ? भला यह भी कोई सवाल में सवाल है कि—

"छोरै छूटै ना सिया जू कौ कँगना, कैसैं चॉपि चढाए"

—हॉ, धनुष कोई जान-बूझ कर—समझ-सोच कर थोड़े ही चढ़ाया था ? अरे वह तो धोखे में चढ़ गया था—धोखे में, और इसी प्रकार टूट भी गया धोखे-ही-धोखे में; क्योंकि आप यानी श्रीमान् श्री-श्री एक सौ आठ, श्री मिथलेश लली" की अनुपम अंग माधुरी, जैसे कि—

जो छबि सुधा-पयोनिधि होई, परम रूप मय कच्छप सोई।
सोभा-रजु मंदरु सिगारू, मथइ पानि पंकज निज मारू।

ॐ

इहि विधि उपजइ लच्छि जव, सुंदरता सुख मूल ;
तदपि संकोच समेत कवि, कहहि सीय सम तूल ।—तुलसीदास

अथवा—

चंपक-हरवा अँग मिलि, अधिक सुहाइ ;
जानि परै सिय हियरै, जब कुंम्हिलाइ ।

सिय तुव अंग-रंग मिलि, अधिक उदोति ,
हार वेलि पहिरावौ, चंपक होति ।

वरवै रामायण—

श्री सीता जी की रूप-माधुरी का वर्णन "केशव" ने भी अति अनूठा किया है । यथा—

कोहे दमयंती, इन्दुमती, रति, रात-दिनं—
हौहि न छबीली छन छवि जो सिंगारिऐ ;
"केसव" लजात जल-जात जात-वेद ओप ,
जातरूप वापुरौ विरूप सौ निहारिऐ ।
मदन निरूपम निरूपन निरूप भयौ—
चंद वहुरूप अनुरूप कै विचारिऐ ;
सीता जू रूप पै देवता कुरूप कोहैं
रूप ही के रूपक तौ वारि-वारि डारिऐ ।

—को निरखि, "जनक-नंदनी" की छवि भरी छवि से छकित हो "तिनका" तोड़ने वाले थे—तिनका ? अस्तु, हाथ पड़ गया पिनाक—धनुप, वस टूट गया ? क्या इस अनजाने कार्य मे भी आप की प्रवल वीरता की वहार थी—धाक थी ? क्या कुछ दिलेरी थी ? श्रीमान् यह तो सव "श्री सीता जू" का प्रखर प्रताप था, आपका कुछ नहीं—कुछ नही । लेकिन "चापलूस तुलसी" इसे आप की ही मौज का मजा मान कर सिर पर आसमान उठा कहने लगा कि—

जबहि सब नृपति निरास भए ;
गुरु पद-कमल बंदि रघुपति तब, चाँप समीप गए।
स्याम-तामरस-दाम-बरन बपु, उर, भुज, नैन बिसाल ;
पीत बसन कटि कलित कंठ सुन्दर सिंधुर मनि लाल।

कल कुन्डल, पल्लव-प्रसून सिर, चारु चौतनी लाल ;
कोटि मदन-छबि-सदन बदन बिधु, तिलक मनोहर भाल।
रूप अनूप बिलोकति सादर, पुर-जन राज-समाज ;
लखन कह्यौ थिर होहु धरनि-धरु धरनि, धरनि-धर आज।

कमल-कौल ढिग-दंत सकल अँग, सजग करहु प्रभु काज,
चहँति चपरि सिव-चाँप चढ़ावन, दसरथ के जुवराज।
गहि करतल, मुनि पुलकि सहित, कौतुकहि उठाइ लियौ ;
नृपगन मुखनि समेति नमित करि, सजि सुख सबै दियौ।

आकरस्यौ सिय-मन समेलि हरि, हरख्यौ जनक हियौ ;
भंज्यौ भृगुपति-गर्व सहित तिहुँ लोक बिमोह कियौ।
भयौ कठिन कोदंड-कुलाहल, प्रलै पयोद समान ;
चौंके सिव, बिरंचि, दिसि-नाइक, रहे मूँदि कर कान।

सावधान ह्वै चढ़े बिमाननि, चले बनाइ निसान ;
उँमगि चल्यौ आनन्द नगर, नभ, जै धुनि मंगल-गान।
बिप्र बचन सुनि सखी सुआसिनि, चली जानकिहि ल्याइ ;
कुँवर निरखि जैमाल मेलि हर, कुँवरि रही सकुचाइ।

बरखहिं सुमन, असीसहि सुर, मुनि, प्रेम न हिऐं समाइ ;
सीय राम की सुन्दरता पर "तुलसिदास" बलि जाइ।

अच्छा, अच्छा! अपनी अनुपम वीरता का दिव्य दास्ता[illegible] एक और लीजिये। यानी एक मर्तबा आपने इन्द्र की—सुररा[illegible] की, पवित्र पूजा पर हाथ साफ किया, अर्थात्—देवराज की अर्च[illegible]

के वजाय गिरि गोवर्धन की पूजा के वहाने अपनी ही, खुद की ही अर्चना को गोप उत्तेजित किये। जैसे कि—

सात बरस कौ साँवरौ ! बोलत तुतरात ;
हँसि-हँसि कान्ह कहै सुनौ मेरी इक बात।
इन्द्र न पूजा कीजिऐ, पूंजौ गिरि तात ;
तुम देखत भोजन करै, पकवान अरु भात।
यहै मतौ निरधारि कैं गोप गृह-गृह जात ;
मृदु बानी गिरिधरन की, सुनि "सूर" सिहात।

अथवा—

बवा ! गोवरधन पूजौ आज ;
जातैं गाय, गुवाल, गोपिका, सुखी सबन कौ राज।
जाकौ रुचि बलि हि बनावत, कहा सक्र सौ काज ;
गिरि के बल बैठे अपने घर, कोटि इन्द्र पै गाज।
मेरौ कह्यौ मान अब लीजै, भरि-भरि सकटन साज ;
"परमानंद" आनिकै अरपत, बृथा करत कत नाज।

—फिर क्या था, आपकी अनुपम आज्ञा के आगे "बाबा" के सहित सब को नतमस्तक हो वही करना पड़ा। यथा—

गोवरधन ! पूंजत है ब्रजराई !
बलि-मोहन आगैं दै लीने, गोप बधू सँग लाई।
दूध दही भाजन करि लीने, पायस बहुत बनाई ;
बैठे हैं गोपाल सिखिर पै, भोजन करत दिखाई।

—और इसके बाद आपने जैसे हाथ साफ किये उसका सुजस "सूर" ने इस प्रकार गाया है, लेकिन भैया ! यह तो बताओ कि—कब के भूखे थे जो कि इस तरह यानी हजार-हजार हाथ से भकोसने लगे। यथा—

देखौरी ! हरि भोजन खात ;
सहस भुजा धरि उत जैंमति है, इत गोपन करत हैं बात ।
ललिता कहति देखि धौं राधे ! जो तेरे मन बात समात ;
धन्न सबै गोकुल के बासी, संग रहत गोकुल के नाथ ।
जैंमति देखि नंद सुख दीनौं, अति आनँद गोकुल नर नारी ;
"सूरदास" स्वामी सुख-सागर गुन-आगर नागर दै तारी ।

अतएव फिर क्या था, जब इन्द्र को पूजा न मिली तो—

सुर-पति क्रोध कियौ अति भारी ;
फरकत अधर, नैंन--रतनारी ।
भृत्य बुलावत दै दै गारी ;
मेघन लावौ तुरत हँकारी ।
इतनी कहत भगे सहचारी ;
अति डरपे, तन की सुधि हारी ।
मेघवरत, जलबरत बुलावौ ;
सैंना सजि तुरति लै आवौ ।
कापर क्रोध कियौ अमरापति ;
महा प्रलै, जिय जानि डरे अति ।
मेघन सौं यह बात सुनाई ;
तुरत चलौ, बोले सुर राई ।
सैना सहित बुलाए तुम कौ ;
रिस करि तुरत पठाए हम कौ ।
बेगि चलौ कछु बिलँब न लावौ ;
हमहि कह्यौ अब ही लै आवौ ।
मेघबरत सब सैंन बुलाए ;
महा प्रलै के जे सब आए ।

कछु हरखे, कछु मन हि डराने ;
प्रलै आहि, कै हमहि रिसाने।
चूक परी हम तैं कछु नाहीं ;
यह कहि कहि सब तुरतहि जाहीं।
मेघबरत, जलबरत, बारिबत ; (वारिवर्त)
अनिलबरत, अनबरत, बज्रबत। (बज्रवर्त)
बोलत चले आपुनी बानी ;
प्रभु सन्मुख पहुँचे सब आनी।
गरज-गरज गहरातहि आए ;
देब-देब कहि माथ नवाए।

सूरसागर

अस्तु—

सात दिन, सात रात, करि उतपात महा,
मारुत झकोरै, तरु तोरै दीह दुख मैं ;
कहै "पदमाकर" करी त्यौं धूम धारन हूँ एते पै—
न कान्ह! कहूँ आयौ रोख रुख मैं।
छोरि छिगुनी के छल ऐसौ गिरि छाइ राख्यौ,
ताके तरै गाय, गोप, गोपी खरी सुख मैं ;
देखि-देखि मेघन की सैंन अकुलानी रह्यौ—
सिन्धु मै न पानी अरु पानी इन्द्र-मुख मै।

अतः व्रज की रक्षार्थ आपने गिरि को उठा सारे ग्वाल बाल और गोपवधूटियो को उसके नीचे बुला लिया। भैया! देखो न, नन्ददासजी ने उस समय का कैसा सुन्दर चित्र-चित्रित किया है कि—

कान्ह कुँवर के कर पल्लव पै, मनौं गोवरधन नृत्य करै ;
ज्यौ-ज्यौं तान उठति मुरली की, त्यौं-त्यौं लालन अधर धरैं।

प्रेम मृदंगी मृदंग बजावत, दामिनि दमकि मनौं दीप जरै ;
ग्वाल ताल दै नीके गावत, गायन के संग सुर जो भरै।
देति असीस सकल गोपी जन, बरखा कौ जल अमित झरै ;
अति अद्भुत अवसरि गिरिधर कौं, "नंददास" के दुःख हरै।

—तो श्री प्रियाजी भी अपनी संग की सहेलियों के साथ आपकी इस वीरता की बहार को मधुर मुसक्याती हुई निरखने लगी कि—यकायक चार निगाहें हो गईं ; बस फिर क्या था ? सारा बल चंपत, हाथ काँपने लगा, और पसीना सारे शरीर से चूने लगा ; तथा अब गिरा, अब गिरा-सा होने लगा कि बलदेव जी की नजर इधर आ गयी और जो आँखें तरेर कर देखा कि सारा मामला ठीक, जैसे कि—

सनमुख साँवरे के आइ ब्रज-बाल कोऊ—
तकि तिरछौहैं चख चचल चलाइ कै ;
ताही समैं कान्ह-कर काँपत ही काँप्यौ गिरि,
ब्रज-जन जान्यौं गिरि गिरत बनाइ कैं।
"रघुराज" राम तहँ ऐसी दसा देखितही,
बन्धु पै बिलोक्यौ नैंकु मंद मुसिकाइ कैं ;
अविलोकि अग्रज कौ आनन नवाइ नैन—
सैल कौं सम्हार्यौ फेरि लालन लजाइ कैं।

—अरे उस समय प्रिया जी श्री वृषभानु-नंदनी पर जो फटकार पड़ी उसका कहना ही क्या ? जैसे कि—

जाउ जिनि या समै तू राधे ! सुनि स्याम-पास,
बार-बार तोहि कर-जोरि करि हारी री ? ;
भारी गिरि-भार कर कठिन तैं उठायौ हरि,
ता तर दुरे हैं गाय, गोपिका बिचारी री ?।

तेरे नैन, तेरे वस नाहि कहीं साँची मैं--
लाल! ललिचै हैं लखि रूप की उजारी री ?
स्वेद कम्प ह्वै है गिरि गिरि है अवसि आजु,
लगि है री कलंक लोग दै हैं तोहि गारी री ? ।

—कोई कवि

अथवा—

भ्रकुटी-कमान-तान फिरति इकेली बधू !
ता पै ए विसिख कोर कज्जल भरे है री !
तोहि देखि मेरे हू गोबिद मन डोल उठै ,
मघवा निगोड़ौ उतै रोप पकरै है री !
बलि-बलि जाउँ वृषभानु की कुमारी तेरी ,
नैकु कह्यौ मान मेरौ कहा बिगरै है री !
चंचल, चपल, ललचौहे दृग मूदि राखि,
जौलौं गिरिधारी, गिरि नख पै धरैं है री !

—कोई कवि

भैया ! "श्री सूर" ने भी तो आपको एक दफे मर्द का खिताब अता करने को कहा था ? जैसे कि—

बाँह छुड़ाएं जात हौ, निबल जानि कै मोहि ,
हिरदे तै कढ़ि जाउ जब, मर्द बदौंगो तोहि ।

हाँ जनाब ! बाँह छुड़ा कर—हाथ छिटका कर, भले ही रफूचक्कर हो जाओ, भले ही भग जाओ; लेकिन निर्बल होते हुए भी हृदय से, कलेजे से, कढ़ जाना जरा टेढ़ी खीर है ? क्योंकि—

कहा भयौ, जौ बीछुरें, मो मन तो मन-साथ ,
उड़ी जाहु कितहूँ गुड़ी, तऊ उडाइक हाथ ।

—बिहारी

—यदि इस समय बिछुड़े हैं तो क्या ? तुम छोड़ कर, भाग कर, इस समय चले जाइये तो क्या ? कोई विशेष चिन्ता की बात नहीं—घबराने की जरूरत नहीं, क्योंकि तेरा मन तो मेरे मन के साथ बँधा हुआ है फिर जाइयेगा कहाँ ? भागो न कितने भागते हो ? उड़ो न कितने उड़ते हो ? लेकिन जान रखो, तुझ गुड्डी (पतंग) की डोर मेरे ही हाथ है, दूसरे के नहीं ? अस्तु—

हुआ बिछुड़े से क्या, दिल आप ही के साथ है मेरा,
पतंग उड़कर कहीं जाए, उड़ायक हाथ है डोरा।

—देवीप्रसाद प्रीतम

अथवा—

मुझसे बे-पूछे हुए घर को चले आप, यह क्या ?
मेहरबाँ ! जाना इजाज़त का है, आना दिल का।

—कोई शायर

अथवा—

निकलती किस तरह है, जाने-मुज़तर देखते जाओ,
हमारे पास से जाओ, तो फिर कर देखते जाओ।

—अशगर

प्यारे ! एक बात तो बताओ ? अरे, सुन लो न ? कुछ हम ही नहीं पूछते ? प्रश्न है—कुछ ऐसे वैसे का नहीं बल्कि आचार्य वर "केशव" का ? अस्तु, आप पूछते हैं कि—श्रीमान् ?

सीखे रस रीति, सीखे प्रीति के प्रकार सबै,
सीखे "केसौ राइ" मन-मन कौ मिलाइबौ,
सीखे सौ है खान, नट तान, मुसिकान सीखे,
सीखे सैन बैननि मैं हँसिबौ हँसाइबौ।

सीखे चाँह, चाँह सौं सु चाँह उपजाइबे की,
जैसी कोऊ चाँहैं चाँह, तैसी ताहि चाइबौ ;
जहाँ तहाँ सीखे ऐसी बातैं, घातैं, तातैं सब—
तहाँ क्यौं न सीखे नैकु नेह कौ निभाइबौ।

हाँ साहब ! जब कि—सारी रस की रीतें सीखीं ? प्रीति करने के प्रचुर—जितने भी—प्रकार थे वह भी सीखे ? इसी तरह मन से मन को मिलाना भी सीखा ? और नाना प्रकार की कस्मों के साथ-साथ नट की सी तान तथा मधुर मुसकराना भी सीखा ? सेना-वृत्ति में हँसना-हँसाना भी सीखा और चपल चाह-से-चाह (अभिलाषा) उपजा कर चहचही चाह को—इच्छा को, भी जैसी अर्थात्—जिस प्रकार कोई चाहे उसी तरह चाँहना सीखा ? पर जनाब ! यह तो बतलाइये कि वहाँ—"नेह निबाहना ही क्यों न सीखा ? इस—रसीले रास्ते से तर्क मवालात क्यों ? बताइये—बताइये ?

किसकी क़िस्मत मे हो तुम, यह तो बताओ मुझको ;
किस के काम आयेगी दुनियाँ में यह प्यारी सूरत।
—दर्द मीर

भैया ! "आनँदघन" जी ने भी तो कुछ ऐसा ही सवाल श्रीमान् के मद्दे-नज़र रखते हुए पूछा था कि—

क्यौं हँसि हेरि हर्यौ हियरा, अरु क्यौं हित कै चित-चाह बढ़ाई ;
काहे कौं बोलि सुधा-सने-बैननि, चैननि, नैननि सैंन चढाई।
सो सुधि मो हिय मै "घन-आनँद", सालति क्यौ हूँ कढै न कढ़ाई ;
मीत सुजान ! अनीति की पाटी, इतै पै न जानिऐं कौन पढ़ाई।

की पट्टी पढ़ाई है—किस चटसाल की यह गुण भरी गाथा है, कुछ समझ में नहीं आता ?

गैर के जिक्र पर नहीं मौकूफ ;
जी जलाने के हैं हजार तरीके ।   —दाग

श्रीमान् ! आपकी कुछ ऐसी ही शिकायत एक और सुनने में आयी है लेकिन—

आप का हाल जो गैरो ने कहा है मुझसे ;
कान हे मेरे गुनहगार, कहूँ या न कहूँ ।

—कायम

आपका हाल—शिकायत गैरों ने की है, औरों ने यह तूफान वर्पा किया है, बैठे ठाले शिकायत का शिगूफा छोड़ा है, अस्तु इरशाद हो तो कहूँ ? जैसे कि—

हरि "रहीम" ऐसी करी, ज्यौ कमान सर पूर ;
खैंचि आपुनी और कौ, डारि देति पुनि दूर ।

अथवा—

अहो हरि ! ऐसी तौ नहिं कीजै ;
अपनी दिसि बिलोकि करुनाकर, हमरे दोष न लीजै ।
तुव माया-मोहित कह जानै, कैसे मति रस भींजै ;
"हरीचंद" पहिलै आपुनौ करि, फिरि काहे तजि दीजै ।

अपनी ओर खींचकर—अपना बना कर, फिर दूर छिटका देना कैसा ? अथवा फेंक देना कैसा ? इसी से तो ऊब कर, आपकी अनुपम अनीति से उकता कर, "आनँदघन" जी ने "रावरी रीति" को "बधिक-रीति" से भी बढ़ा चढ़ा मान कर कहा है। जैसे कि—

अधिक वधिक तैं सुजान ! रीति रावरी है—
कपट चुगौ दै फिरि निपट करौ बुरी ;
गुननि पकरि लै निपाँख करि छोरि देहु,
मरहिं न जीय महा बिषम दया-छुरी ।
हौ न जानौ कौन धौं हैं या मैं सिद्धि स्वारथ की,
लखी क्यौं परति प्यारे ! अन्तर-कथा दुरी ;
कैसैं आसा-द्रुम पै बसेरौ लहै प्रान खग,
बनक निकाई "घन-आनँद" नई जुरी ।

वाह रे खिलाड़ी ! कपट-चारा—चुगा देकर, अथवा अपने गुणों की डोरी से बाँध, और फिर "निपाँख करि छोरि देहु" पंख-रहित करके छोड़ देना ? जिससे कि मरे न जिये, यूँ ही तड़फा करे ? ओह, आपकी दया की छुरी बड़ी विषम है ।

पहले नमक छिड़क कर, ज़ख्मों को कस के बाँधा ;
टाँका लगा लगा कर, फिर खोल-खोल डाला ।
—कोई शायर

अरे जालिम ! इन तीरे-नजर के जख्मों को नमक छिड़क कर कसके बाँधने के उपरान्त टाँके लगा कर और फिर बार-बार खोलने से क्या फायदा ? क्या लाभ ? क्या नफा ? यहाँ तो प्यारे ! अपने "तीखी-चितवन" के जख्मों को—घावों को, अपनी बरुनियों की पेनी-पेनी सुइयो में स्नेह के डोरे को पिरोकर "सलज लजाने के" टाँके दे-दे ! जिससे कि बार-बार खोलने की और मरहम लगाने की दरकार ही न रहे ? आवश्यकता ही न पड़े ? यथा—

तीखी चितवन के जख्म लगे, मेरे दिल बीच अमाने के ;
यूँ ना तक मालिज मिले नहीं मुझ लख्ते-जिगर चुचाने के ।

वरुणी की सूई, लाल डोरे, दे टाँके सलज लजाने के ;
कुछ मरहम की दरकार नहीं, सुन अफलातून जमाने के।—शीतल

अथवा—

उर में घाव रूप सौ सेकै, हित की सेज विछावै ;
दृग-डोरे सुइयाँ वर-वरुनी, टाँके ठीक लगावै।
मधुर, सचिक्कन अंग-अंग छवि, हलुवा सरस खवावै ;
स्याम तबीब इलाज करै जब, तब घाइल सचुपावै।

—सहचरि शरण

—हाँ तो, इस "वधिक" से भी अधिक अनरीति में कौन से स्वार्थ की सिद्धि समझ रक्खी है—न मालूम कौन सी अन्तर की अकथ कथा छुपा रखी है, जो कि दिखलाई ही नहीं पड़ती, समझ की शरैयत से बाहर हो रही है। अस्तु, जो कुछ भी हो! पर ये तो वतलाओ कि—फिर आशा-द्रुम पर प्राण रूपी खग (पक्षी) किस तरह गुजारा करे? किस प्रकार अपनी औकात बशर करें? आह—

दर्द वह दर्द है, लव पर जिसे ला भी न सकूँ ;
ज़ख्म वह ज़ख्म है दिल का, कि दिखा भी न सकूँ।

—लेकिन सरकार! आपकी बड़ाई व शोभा की शोहरत तो इसमें नहीं है कि—अपना कर, अपना बनाकर, अलग कर दें। अपितु आपकी अधिकता तो इसमें है कि आदि से अन्त तक अपनाया सो अपनाया? स्नेह-सम्बन्ध जोड़ लेना तो आसान है, पर सरकार! एक सा निभाना यही बड़ों का, सदाचारियों का—शूरवीरों का कमनीय कार्य है, अन्यों का नहीं। क्योंकि—

अगिन आँच सहना सुगम, सुगम खड़ग की धार ;
नेह-निभावन एक रस, महा कठिन व्यौहार। —कबीर

आग मे तपना सरल है—जलाना सहज है, और तीक्ष्ण खड्ग की धार पर धावना, दौड़ना भी सहज ही है, पर "एक-रस" अर्थात्—ओर से अन्त तक एक सा प्रेम निवाहना कठिन है ! कठिन है !! महा कठिन है !!!

नेहा सब कोऊ करै, कहा करे मै जात ;
करिबौ औरु निवाहिबौ, बड़ी कठिन यह बात ।

—बोधा

उफ ! कितनी कठिन समस्या है, उलझनो पर उलझनें हैं ! चलना—प्रेम-पथ पर पैर रखना, है तो आसान, पर विश्वासरूपी मार्ग-व्यय के साथ, छल-कपट रूप ठग न हो तब । क्योकि—इस कटीले पथ मे कष्टों की हवा, विरह की लूवें, हृदय को दुःख की दावाग्नि में दग्ध करने वाली होती हैं । शोक के नद मे विषाद के भयावह घड़ियाल और प्रियतम की कठोरता रूप तेज धारा के तो एकदम सामने तैरना पड़ेगा, जो कि कठिन है । निहायत कठिन है—

छल-वंचक-हीन चलै पथ माहि, प्रतीति-सु संबल चाहनौं है ;
तहँ संकट-बायु बियोग-लुवैं दिल कौ दुख दाव मैं दाहनौ हैं ।
नद-सोक विपाद-कुग्राह ग्रसैं खर धारहि तौ अवगाहनौं हैं ;
हित "दीन-दयाल" महा मृदु है, कठिनैं अति अन्त निबाहनौं हैं ।*

प्रेम का पंथ, स्नेह का रसीला रास्ता, है तो निहायत सरल,

* कविवर "ठाकुर" भी कुछ "दीन-दयाल" जी की तरह ही फर्माते हैं कि—

एकु ही सौं चित चाहिऐ ओर लौं, बीच दगा कौ परै नहिं डाँकौ ;
मानिक सौ मन बेचि कै मोहन ! फेरि कहा पखाइवौ ताकौ ।
"ठाकुर" काम नहीं सबकौ, अब लाखन में परवीन हैं जाकौ ;
प्रीति करे में लगैहैं कहा ? करिकैं इक ओर निवाहिवौं बाँकौ ।

एक दम मृदुल, पर अन्त तक निबाहना सहज नहीं है ! नहीं है !!
यथा—

गहिवौ अकास, पुनि लहिवौ अथाह थाह,
अति विकराल ब्याल-काल कौ खिलाइवौ ;
सेर समसेर-धार सहिवौ प्रवाह-वान,
गज मृगराज द्वै हथेरिनु लराइवौ।
गिरि तैं गिरनु, ज्वाल-माल मैं जरनु औरु-
कासी मै करौट, देह हिम मै गराइवौ ;
पीवौ विप विपम कवूल "कवि नागर" पै-
कठिन कराल एकु नेह कौ निभाइवौ।

अथवा—

आपुहिं तै सूरी चढ़ि जैवौ है सहज घनौ,
सोऊ अति सहज सती त्यौ तन-दाहिवौ ;
सीस पै सुमेरु धारि धाइवौ सहज, अरु—
सहज लगैहै वहु सातौ सिन्धु थाहिवौ।
सहज बड़ौ है प्रीति करिबौ, बिचारौ जिय,
सहज दिखात चित्त द्वै दिन कौ चाहिबौ ;
"रसिक-बिहारी" यही सहज नहीं है मीत !
एकु सौ सदाँ ही साँचे नेह कौ निबाहिबौ।

चन्द दिन के लिये तो सब ही प्रेमी बन जाते हैं, अथवा बन जाना चाहते है, लेकिन—

"चार दिन की चाँदनी औ फिर अँधेरी रात"

❀

कही परौसिन सौं तिया, निरखि सखी ! सुख-दैन ;
चार दिनाँ की चाँदनी, बहुरि अंधेरी रैंन।

—कोई कवि

"चार दिन की चाँदनी" पर "ठाकुर" का एक पद्य याद आ गया है, जैसे कि—

का कहिऐ कहिवे की नहीं, मग जोवत-जोवत ज्वै गयी री ;
उन तोरत वार न लाई कछू, तन तैं वृथा जौबन ख्वैं गयी री ।
कहि "ठाकुर" कूबरी के वस ह्वै, रस मै विस बावरी व्वै गयी री ;
मन-मौंहन कौ हिलिबौ-मिलिबौ, "दिना चारि की चाँदनी" ह्वै गयी री ।

मियाँ मीर हसन की भी चन्द शतरें "चार दिन की चाँदनी" पर सुन लीजिये । यथा—

वरस पन्द्रह या सोलह का सिन ;
मुरादो की रातें, जवानी के दिन ।
कहाँ यह जवानी, कहाँ फिर यह सिन ;
असल है कि है–"चाँदनी चार दिन ।"

—लेकिन दादा ! दुनियाबी-नेह का नशा, कुत्सित प्रेम-मदिरा का मख़मूरपन चन्द दिन का होता है—क्षण-भंगुरता, अनित्यता, लौकिक प्रेम में प्रयुक्त हो अथवा न हो ! लेकिन आपका तो प्रेम अपरिवर्त्तनशील होना चाहिये । अजी हज़रत ! लौ लगाई सो लगाई, हाँथी के दाँत की तरह बाहर निकले सो निकले, फिर भीतर घुसना क्या ? मुँह छिपा कर भागना क्या ? श्रीमान् ! आपकी तो तारीफ इसमें है कि—आपके अहदे-मुहब्बत का तार टूटना मुश्किल ही नही बल्कि गैरमुमकिन हो जाय । अतः इस अनुपम—अहद पर चलने मे ही आपकी शेर-दिली है, जवाँमर्दी है—परम पुरुषार्थ है ।* अन्यथा दोनो दुनियाँ के भी न रहोगे !

* ऐसा ही कुछ "ठाकुर" भी उद्धव के प्रति गोपियों द्वारा कहलाते हुए फर्माते हैं कि—

न रहोगे !! क्योंकि विश्वासघात से बढ़ कर कोई भी अन्य प्रबल पातक नहीं होता।

होना नहीं बिदरदाँ लाज़िम, अशिक़ तरफ तिहारे ;
इश्क़ क़दरदाँ बर-ईपद-हँसि, नज़र दुरुस्त निहारे।
"सहचरिशरण" रसिक ख़ुद मर्दाँ जस ख़ुशबोय विहारे ;
रस-मस्ती करदाँ लखि तिनकी अलि-अँग अंग चिहारे।

परन्तु आपको क्या ? वेद-विहित पाप और पुण्य—कानून और कायदे, सब हम जैसे गरीबों के लिये है, आपको क्या ? क्योंकि आप तो इन सबसे बरी है, पृथक् है। भैया ! आपको लोक वा परलोक का डर—थोड़े ही है, क्योंकि—

रबि, पावक, सुरसरि की नॉई, समरथ कौ नहिं दोष गुसाँई।

इसी भाव पर कविवर "ठाकुर" भी कहते हैं। यथा—

आपुनौं बनाइबे कौ औरु के बिगारिबे कौ,
सावधान ह्वै कै परद्रोह सौ हुनर है ;
भूलिगे दया के सिन्धु, करुनानिधान कहू,
जिन्हें सब बिस्व मै बनाब कौ बितर है।

येगरीं न लागै ऊधौ ! चित के चँदोवा फटैं,
बिगरो नाँहि सुधरै सनेह सरदन कौ ;
आपनेई हाथ लै कै करत हवाल एसौ,
का पै हौंनहार यौं हलाल गरदन कौ।
"ठाकुर" कहत हौं बिचारि यौं बिचारि देख्यौ,
बिरलौ मिलै है जो सहाइ दरदन कौ ;
वैर, प्रीति-रीति जासौं जैसी जहाँ मानि लई,
एकु सी निबाहिबौ है काम मरदन कौ।

"ठाकुर" कहत रँगे लोभ, मोह, माया मैं,
कहत सरीर यह अजर, अमर है ;
हाइ उन लोगन तैं कौन सौ उपाइ जिन्है—
लोक कौ न डर, परलोक कौ न डर है।

—और यही गोस्वामी तुलसीदास जी से भी बहुत पूर्व श्री शुक ने राजा परीक्षत को लताड़ते हुए कहा था कि—

धर्मव्यतिक्रमोदृष्ट, ईश्वराणां च साहसम् ;
तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा।
—श्रीमद्भागवते १०।३३।३०

लेकिन आह—

फ़रियाद हमारी कौन सुने, दिलजान विकरमाजीति नहीं ;
जो कामकन्दला दरद मन्द, माधौनल की सी प्रीति नहीं।
अटका जो भौंरा बेली से, जब सूख गई तब रीति नहीं ;
जानी ! तू दरद जौहरी है, यह समझ नेह की नीति नही।
—आनँद-चमन

—हाँ, किससे फरियाद की जाये—दिल के गुब्बार कहाँ निकाले जाँय ? और आपकी नीति-अनीति का न्याय भी किससे कराया जाय ? आपके सिवा कोई "जज" दीखता ही नही ? कोई और नज़र आता ही नही—जचता ही नहीं ? कि—

"जाके आगैं नाथ ! न्याव हम-तुम जाइ करिऐ"

❀

तुम हीं बनाई दसौ इन्द्रिन की चंचलता,
तुमही कहत इन्हैं जीतै सो बलिऐ ;
तुमहीं कहत दारा-पुत्र बिनु गति नाहि,
तुमहीं कहत ए तौ फंदा की गलिऐ।

तुमहीं कहत काया-धरम राखै धरम होत,
तुमही कहत काया धरम हूं सौं बड़िऐ ;
"निपट-निरंजन" कहैं दूजौ कोऊ देव नाहि,
जाके आगै नाथ ! न्याव हम-तुम जाइ करिऐ ।

कुछ ऐसा ही ठाकुर ने भी कहा है, यथा—

रूप है, न रस है, न गुन हैं, न ज्ञान कहूं,
सील है न सत्य भयौ निरस जमानौं है ,
रीति है, न प्रीति है, न नीति है, न न्याव कहूं,
घर-घर देखियतु हरख हिरानौ है ।
"ठाकुर" कहत भूलौ सकल सँजोग-भोग,
कठिन कुजोग लोग सवही बिरानौ है ;
कौंन कौं जतैऐ, कहाँ जैऐ, कहाँ पैऐ बीर !
मन बहराइबे कौ ठौर ना ठिकानौ हैं ।

अस्तु, जो इच्छा हो—मन की जो कुछ मौज हो, वह करते जाइये, मनमानी मौज मनाते जाइये । क्योंकि—

परम स्वतन्त्र न सिर पर कोई ;
भावहि मनहि करहु तुम सोई ।

—तुलसीदास

कुछ मालूम ही नहीं पड़ता है कि आप किससे रीझेंगे ? कौन सी करतूत से प्रसन्न होगे ? भला बतलाइये तो कि आप—जप से कि तप से, ज्ञान से वा ध्यान से रीझेंगे ? अथवा यही फर्माइये कि खीझेंगे किस-किस से ? अस्तु, कुछ पता तो लगे ? आपके दिल दर्याव की कुछ थाह तो लगे ? ऐ, क्या कहा कि वेद और पुराणो को देखो ! वाह साहब ! खूब कहीं ? अजी हज़रत ! उनकी विभिन्न—बातो को—उनकी एक से एक विपरीत विधियो

के विभेदों को, किसी ने आज तक समझा ? कि हमही समझेंगे ? क्योंकि—

कही पाप किये से, बड़ा पुण्य होता है ;
कही पुण्य किये से, बड़ा पाप होता है ।

—बनारसी

—का मामला, आपकी कथा और उपकथाओं में जगह-ब-जगह अनुदित है । झूठ थोड़े ही है, भला बतलाओ तो कि—गीध और गणिका ने कौनसा जप, तप और यज्ञ किया था, इसी तरह परम भक्त राजा नृगादि ने ही कौन सा पाप किया था, तथा कहीं इन दोनों से भी विभिन्न—पाप और पुण्य से भी पृथक्, आपकी करतूत देखी जाती है । अस्तु, कुछ ऐसी ही उलटी-सीधी चालों से ऊब कर, मनमानी रीति रिवाज से उकता कर "भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी" कहते हैं कि—

ना जानौं गोविंद ? कासौ रीझैं ;
जप सौं, तप सौं, ग्यान-ध्यान सौं, कासौ रिसि करि खीझैं ।
बेद, पुरान भेद नहि पायौ, कहत आँन की आँन ;
कहा जप-तप कीन्हौ गनिकानै, गीध दियौ कब दान ।
नैंमी, ग्यानी दूरि होति है, नहिं पावत कहुँ ठाम ;
ढीठ लोक बेदहु तै निन्दित, घुसि-घुसि करत कलाम ।
कहुँ उलटी, कहुँ सूधी चालै, कहुँ दोउन तैं न्यारी ;
"हरीचंद" काहू नहिं जानी, मन की रीति निकारी ।

भैया ! मन की रीति करिये अथवा बे-मन की, परन्तु बकौल, "बाबू जगन्नाथदास" रत्नाकर के कि—

थापौ जहाँ भावै तुम्हैं थापिवौ हमै पै नाथ !
माथ पै हमारे पुन्न पाप थाप थापौना ।

क्योंकि—

सोई सो किये हैं, जो-जो करम कराए आपु,
तिन पै भले औ बुरे की छाप छापौना;
कहै "रतनाकर" नचाइ चित चायौ नाँचि,
काँच-पुतरी पै गुन-दोष आप आपौना।
खोटे, खरे भेद औ अभेद धरि राखौ उतैं,
विवसि बिचारे पै वृथा ही धाप धापौना;

अस्तु—

थापौ जहाँ भावै तुम्हैं थापिबौ हमैं पै नाथ!
माथ पै हमारे पुन्न-पाप थाप थापौना।

हाँ-हाँ, हमारे मत्थे अपने बनाये हुए उन पाप और पुण्यों की थाप न थापियेगा, वरना सारी सिट्टी भूल जायगी? क्योंकि आपकी सारी बादशाही की बागडोर हमारे ही हत्थे उलझी हुई है। अतएव, इन पाप और पुण्यों से परे रखकर दरे-दौलत पर पड़े रहने दीजियेगा, छेड़-छाड़ न कीजियेगा, जैसे—

मानिये कहना दरे-दौलत पै रहने दीजिये;

क्योंकि—

हम गरीबों से है सारी पातशाही आपकी।

—कोई कवि

—और फिर यह जमाना, जानते हो न कि कैसा है? एक दम प्रजा-सत्तात्मक है! अस्तु—

"सूरदास" कब लौं यह चलि है "अँधाधुन्ध सरकार"

❀

ऊधौ! धनि तुम्हरौ ब्यौहार;
धनि वे ठाकुर, धनि तुम सेवक, धनि-धनि परसन हार।

आम कौं काट बबूर लगावत, चंदन झौंकत भार ;
साह पकरि, चोर कौ छोरत, चुगलन कौ अधिकार।
हम कौं जोग, भोग कुब्जा कौ, ऐसी समझ तिहार ;
हंस, मोर, सुक, पिक कौ त्यागत, कागन कौ इतबार।
तुम हरि पढ़े चातुरी विद्या, निपट कपट चटसार ;
"सूर" स्याम कैसैं निबहैगी, 'अँधाधुंध सरकार।"

अथवा—

"सूरदास" कब लौ यह बा चलि है, अँधाधुन्ध सरकार।

अरे हाँ, सचमुच आपकी यह अंधाधुन्धी-धाँधली कुछ समझ में नही आती—मनमानी कारवाई मन में ही नहीं अटती। जैसे कि—

दयानिधि ! तेरी गति लखि न परै ;
धर्म अधर्म, अधर्म धर्म करि, अकरन करन करै।
जै अरु बिजै कर्म कहा कीन्हौ, ब्रह्म सराप दिवायौ ;
असुर-जौंनि ता ऊपर दीन्ही, धर्म बिछेद करायौ।
पिता-बचन खंडै सो पापी, जो प्रहलाद हि कीनौ ;
निकसि खंब बीच तै "नरहरि", ताहि अभै पद दिनौ।
दान, धर्म बहु किए भानु-सुत, सो तुम बिमुख कहाए ;
वेद विरुद्ध सकल पाँडव सुत, सो तुम्हरे मन भाए।
जग्य हि करत बिरोचन कौ सुत, बेद बिमल बिधि करमा ;
सो छलि बाँधि पताल पठायौ, कौन कृपा-निधि धरमा।
द्विज-कुल पतित अजामिल बिपई, गनिका नेह लगायौ ;
सुत-हित नाम लयौ "नाराइन" सो बैकुंठ पठायौ।
पतिव्रता जालंधर जुवती, सो पतिव्रत तैं टारी ;
दुष्ट, पुस्चली, अधम सु गनिका सूवा-पढ़ावति तारी।
मुक्ति-हेतु जोगी स्रम कीन्हौ, असुर विरोध हि पावै ;
अबिगत-गति करुनामय ! तेरी, "सूर" कहा कहि गावै।

अथवा—

अबिगत-गति जानी न परै ;
मन-बच-अगम, अगाधि, अगोचर, केहि बिधि बुधि सँचरै ।
अति प्रचंड पौरुष बल पाएँ, केहरि भूँख मरै ;
बिनु आसा, बिनु उद्यम कीऐ, अजगर उदर भरै ।
रीते भरै, भरै पुनि ढोरै, चाँहै फेरि भरै ;
कबहुँक तृन डूबै पानी मैं, कबहूँ सिला तरै ।
बागर तै सागर करि राखै, चहुँ दिसि नीर जरै ;
पाहन बीचि कमल बिकसावहि, जल मैं अगिनि जरै ।
राजा रंक, रंक तै राजा, लै सिर छत्र धरै ;
"सूर" पतित तरिजाइ तनक मैं, जो प्रभु नैकु ढरै ।

भैया ! आपकी इन निपट करनियों से सारी साख जाती रही—न्याय-प्रियता की धाक ही उठ गई ? जैसे कि—

माधव ! तुमहुँ भए बे-साख ;
बुही ढाकु के तीन पात हौ, करौ क्यौं न कोउ लाख ।

क्योंकि—

भक्त अभक्त एकु से निरखत, कहा होत गुन गाएं ;
जैसैहि खीर खबाएँ तुमकौं, बैसैहि सींगु दिखाएँ ।
सबै धान बाईस पँसेरी, नित तोलन सौ काम ;
बलिहारी ! नहिं नैकु बिदित तुम्हैं, ऊँच-नीच कौ नाम ।
बे-पैंदी के लोटा के सम, तुब मति-गति दरसावै ;
कछु-कौ-कछु प्रभु ! काज करन मै, तुम्हहिं लाज नहिं आवै । ⊛

⊛ उक्त अंश को "हृदय-तरंग" के संग्रहकर्ता ने और साहित्य बिहार एवं ब्रज माधुरी सार के रचयिता ने इस प्रकार लिखा है—

"यह कछु को कछु काज करत मैं, तुमहिं लाज नहिं आवै"

जगत-पिता कहिबाइ भए तुम, अब ऐसे बे पीर ;
दिन-दिन दुगुन बढ़ावत जो नित, द्रोह द्रोपदी-चीर।
जुग कर जोरि प्रार्थना यै ही, निज माया धरि राखौ ;
"सत्य" दीन, दुखियनु के हित कौं, सदय हृदय अभिलाखौ ।

अस्तु—

माधव ! अब न अधिक तरसैऐ ;
जैसी करत सदाँ तैं आए, वुही दसा दरसैऐ ।
माँनि लेउ हम कूर, कुढंगी, कपटी, कुटिल, गँवार ;
कैसे असरन-सरन कहे तुम, जन के तारनहार ।
तुम्हरे अछत तीन-तेरह यह, देस-दसा दरसावै ;
पै तुमकौ यहँ जनम धरे की, तनकहु लाज न आवै ।
आरत तुमहि पुकारत हम सब, सुनत न त्रिभुवन-राई;
अँगुरी डारि काँन मैं बैठे, धरि ऐसी निठुराई ।
अजहुँ प्रार्थना यही आपुसौं, अपनौं विरद-सम्हारौ ;
"सत्य" दीन, दुखियनु की बिपता, आतुर आइ निवारौ ।

अथवा—

मौंहन ! अजहुँ दया हिय लावौ ;
मौंन-म्हौर कब लौं टूटैगी, हरे ! न और सतावौ ।

अरे—

खबर बसंतहु की कछु तुमकौं, बिरद-बाँनि बिसराई ;
ऐसी फूलि रही सरसौं सी, तव नैननि मैं छाई ।
अचल भए सब अचल देखिऐ, सरि से अस्तु बहावैं ;
सूरज पियरे परे मोह बस, चिन्तति दौरे जावैं ।

—लेकिन हमें "स्वर्गीय सत्यनारायण" जी ने वही पाठ लिखाया था जो कि ऊपर उद्धृत किया जा चुका है और साथ ही १९७२ ज्येष्ठ की चतुर्वेदी-पत्रिका में भी वही पाठ है, निम्न लिखित नहीं ।

और—

द्रुम तक हू के दग-नव-किसलै, रोइ भए अरुनारे ;
दारुन देस-दसा लखि बौरे, ए रसाल चहुँ सारे ।
अबला-लता कलेबर कौमल, कंपित भै दरसावै ;
लम्बी लेति उसास, जानिएँ, जबै हदै लहरावै ।

तथा—

कारी कोइल कूंक कलाकल, जदपि गुहार मचावति ;
चहुँ अरन्य रोदन सम सुनियतु, कछु न प्रभाव जनावति ।

और इसी प्रकार—

लखियतु नहि सदभाव-कमल अब, कुसुमित मानस माँहीं ;
कोरी प्रकृति-छटा बस सुन्दर, तथा रही कछु नाँही ।

अस्तु—

जनम-भूमि निज जानि साँवरे ! याकौ हित अभिलाखौ ;
अरध-दग्ध-जड़-दसा बीचु अब, अधिक न याकौ राखौ ।

भैया ! भक्तवर "व्यास जी" ने भी तो आपकी भव्य भूल का ढिंढोरा पीटते हुए कहा था कि—

कहूँ-कहूँ गोपाल की, गई सिटल्ली भूल ;
काबुल मै मेवा करी, ब्रज मै टैटी मूल ।*

---

* यही कवि "ठाकुर" भी कहते है कि—

काबुल जाइ कै मेवा रची, ब्रज-मंडल माँहि करील लगाए ;
मेवा तजी दुरजोधन की, रुचि सौं घर साग बिदुर के खाए ।
राधिका सी ब्रज-बाल तजी, कुबरी घर जाइ कै रंग रचाए ;
"ठाकुर" ठाकुर की का कहै, सदौं ठाकुर......होतहि आए ।

अथवा—

को कहि सकै बड़ेनु सौं, लखैं बड़ी हू भूल ;
दीने दई! गुलाब कौं, इन डारन वे फूल।

❀

"इन डारन वे फूल" दई अलि-वृन्द लुभायौ ;
कोइल कारी करी, कुहूकनि जग तरसायौ।
अँग-अग कोमल ठानि, तीय-हिय कियौ उपलसो ;
"सुकवि" पण्डितहिं अधन कियौ, बिधि भाखि सकै को।

—विहारी-विहार

हाँ सच है? बड़ों की बड़ी भूल निरखकर भी कौन उनसे कहने बैठता है—कौन कह सकता है कि श्रीमान्! जरा अपने इस अयोग्य संघटन को देखिये तो सही—अपनी भव्य भूल की उस अनोखापन पर बलिहारी तो जाइये! जिसने कि कंटकों से आच्छादित डाल में गुलाब सा सुकोमल पुष्प पैदा किया? वाह साहब! खूब रही?

बडो से कौन कह सकता है उनकी भूल लखि भारी ;
गुलाबों की ये शाखें, फूल वो कुदरत की बलिहारी।

—देवीप्रसाद प्रीतम

सत्य बात है भगवन् सत्य बात है! बड़ों की सारी बातें ही बड़ी होती है, फिर भूल ही क्यो छोटी हो? यथा—

बड़ेनु की होति बड़ी सब बात ;
बड़ौ क्रोध पुनि बड़ी दया हू सब कछु बड़ौ लखात। ❀

—भारतेन्दु

❀ मोसे दीन हीन पै नहिं तौ, काहे कुपित जनात ;
पै "हरिचंद" दया-रस उँमड़ै, डरतहि बनिहैं तात।

अथवा—

बड़े, दीन के दुख सुनैं, लेति दया उर आँन ;
हरि-हाथी सौं कब हुती, कहु "रहीम" पहिचाँन ।

बड़े, सहज ही बात मैं, रीझि देति बकसीस ;
"तुलसी" दल लैं बिस्नु ज्यौं, आक धतूरैं ईस ।

बड़े, बचन पलटैं नहीं, कहि निरबाहैं धीर ;
कियौ बिभीषन लंक पति, पाइ बिजै रघुबीर ।

बड़े, बड़े तैं छल करैं, जनम कनौड़े होहि ;
"तुलसी" श्रीपति सिर लसै, बलि बामन-गति सोहि ।

बड़े जिती लघुता करैं, तिती बड़ाई पाइ ;
काम करैं सब जगत के, तातें त्रिभुवन-राइ ।

भैया ! लोग-बाग कहते हैं कि—गिद्ध की दृष्टि बड़ी पैंनी अर्थात्—तीक्ष्ण होती है । उसको दूर-दूर की वस्तुएँ दिखलाई पड़ती है—यानी नगीच सी ही नजर आती है ? अस्तु इस "जलतुम्बका न्याय" से कविवर "गिद्ध" जी ने, आपकी अनन्त भूलो की विपुल "लिष्ट" मे से कुछ एक मद्दे-नजर नजराना सा रखते हुए कहा है कि—जनाब !

ससि कलंक, रावन विरोध, हनुमत सौं बनचर ;
कामधैंनु सी पसू-काइ, चिन्तामनि—पत्थर ।
अति रूपा तिय बाँझ, गुनी कौ निरधन कीयौ ;
अति समुद्र सो खार, कमल बिच कंटक दीयौ ।
सो जाए व्यास केवट्टनी, दुरबासा आसन डग्यौ ;
"कवि गिद्ध" कहै सुनरे गुनी ! कोउ न "कृष्ण" निरमल रच्यौ ।

—शशि मे कलङ्क, "रावण" में विरोध और "हनुमन्त" सदृश

बलवान् बनचर (बंदर) तथा इच्छित इच्छा को तुरत पूर्ण करने वाली "कामधेनु" को पशु-आकार? इसी तरह हृदय में अभिलाषा उठते ही प्रदान करने वाली "चिन्तामणि" पत्थर ? अतिस्वरूपा "शची" आदि स्त्रियाँ बाँझ ? "गुनी" निरधन ? "समुद्र" खारी ? कमलों में कटक ? इतने पर भी और बड़ी भूल देखिये कि—"विशाल-बुद्धये" व्यास केवटनी से पैदा ? आदि-आदि। कहाँ तक गिनाये, भूलों का तो ताँता ही लगा दिया ? किसी को भी तो विशुद्ध रचते ? सब ही को खुटाई से खचित करने की क्या जरूरत थी ? बतलाइये न !

भले-भले विधिना रचे, पै सब ही मैं कीन ;
कामधेनु पसु, कठिन मनि, दधि खारौ, ससि दीन।

अथवा—

कहा कहौ विधि की अबुधि, भूले परे प्रवीन ;
मूरख कौं सपति दई, पंडित संपति-हीन।—कोई कवि

अथवा—

कटु इन्द्रायण में सुन्दर फल, मधुर ईख में एक नहीं ,
बुद्धि-मान्द्य की सीमा तू ने, दिखलाई है कही कहीं।

—महावीरप्रसाद द्विवेदी

कुछ इसी प्रकार की भूलों का निर्देश "फेरन कवि" ने भी किया है, यथा—

गृहिन दरिद्र, गृह-त्यागिन बिभूति दीन्ही ,
पापिन प्रमोद, पुन्नंवतन छलौ गयौ ;
ग्रहन दिनेस कियौ सनि कौ सुचित्त लघु,—
व्यालन अनन्द, सेस भारन दलौ गयौ।
"फेरन" फिरावत गुनी जन कौ द्वार-द्वार ,
गुन तैं विहीन ताहि बैठक भलौ दयौ ;

कौंन-कौन चूक तेरी कहौं एकु आनन तैं,
नाम चतुरानन पै चूक तौ चलौ गयौ।

❀

अनल-सिखा मैं करी धूम मलिनाई तैसी,
आवरन काई को बिमल बारि-बर मैं;
कौंमल कमल नाल, कंट कटिहारौ कीन्हौ,
जल निधि खारौ यौ निहारौ भूमि तर मैं।
बैंन सुने जगत कुबोलौ ठहरै है "धनी—
राम" कोऊ काहू कौ न जानैं के हुँ मर मै;
वंक-विधि बुद्धि कौ निसंक कहियतु काहे—
पक कियौ सरन, कलंक सुधाधर मै।

❀

सीता पायौ दुख अरु पारबती दंझा तन,—
नृगनै नरक पायौ, बेस्या गति पाई है;
वैंनु भऐ सुखी, हरिचंद नृप दुखी भए,
वलि कौ पताल, सरग पूतना पठाई है।
संकर कौ बिष, बिषधर कौं दियौ है अंग,
पांडव पठाए जहाँ बिष अधिकाई है;
हाल-ठकुराइस मैं बोलिबौ अचंभौ यह—
ईस्वर के घर तैं अपेलि चलि आई है।

भैया! कहीं-कहीं तो तूने अपनी वेवकूफी की हद कर दी है—बे-जोड़ भूलें की है? देखिये न कि, कटु और विषाक्त इन्द्रायण में तो कैसे सुन्दर नयनाभिराम फल लगाये और ईख—जोकि मधुर व सुस्वादु है फल व फूल का नाम ही नहीं? वाह, बलिहारी है आपकी विशाल बुद्धि की! वाह, खूब! उसकी यत्र-तत्र क्या, सर्वत्र

ही छटा दिखलाई है ? धन्य है, धन्य है ! इसीसे तो किसी ने कहा है कि—

"रीझैं बस होत, खीझैं देति निज धामरे !"

अर्थात्—आपका रीझना और खीझना दोनों बराबर है—सब एकसाँ है ? इसलिये ही तो "सत्यनारायणजी" ने कहा था कि—

"सबै धान बाईस पॅसेरी नित तोलन सौ काम";

अस्तु, आपकी—"सबै धान बाईस पसेरी" सी समझी जाने वाली रीझ और खीझ को एकसी समझ "कविवर अब्दुलरहीम खानखाना साहब" फर्माते हैं कि—

आनीता नटवन्मया तव पुरः श्रीकृष्ण या भूमिका ;
व्योमाकाशखखाम्बराब्धिवसुवत्त्वत्प्रीतयेऽद्यावधी ।
प्रीतस्त्वं यदि चेन्निरीक्ष भगवन् ! स्वप्रार्थित देहि मे ;
नोचेद्ब्रूहि कदापि मानय पुनस्त्वेतादृशीं भूमिकाम् ।

अर्थात्—भगवान् ! आपको प्रसन्न करने के लिये, "नट" के समान आकाश और पृथ्वी के पवित्र "रंगमंच" पर चौरासी लाख योनि स्वरूप नाना भाँति से विविध रूप धरकर आपको रिझाने के लिए आवागमन-यवनिका के सहारे अद्भुत भेषों से सज-धज कर नाचता रहा; अतएव यदि आप मेरे इन स्वागों को, रिहर्सल को देखकर रीझे हो—प्रसन्न हुए हो, तब तो जो कुछ भी मैं माँगू उसे प्रसन्न होकर इनायत कीजिये ? और यदि मेरी इस बेवकूफी पर नाराज हुए हों, अप्रसन्न हुए हों, तो हे नटवर ! ऐसी आज्ञा दीजिये कि फिर कभी इस भव्य भूमि का भार न बढ़ाऊँ ! यानी आवागमन से छूट जाऊँ ? क्योंकि—

कबहुँक खग, मृग, मीन, कबहुँ मरकट-तन धरि कैं ;

अथवा—

कबहुँक सुर, नर, असुर, नाग, मय-आकृति करिकै।
नटवत लख चौरासि स्वाँग धरि धरि मै आयौ;
हे त्रिभुवन के नाथ! रीझि कौ कछू न पायौ।
जो होहु प्रसन्न तौ देहु अब, मुकति-दानि माँगौं बिहँसि,
जो पै उदास तौ कहहु इमि, मत धरि रे नर! स्वाँग असि।

—रहीम

सरकार! और सुनो, आपके दिव्य दरबार में—अजामिल, गणिका और गीध के साथ जाट, जुलाहा, दरजी, छीपी, कहार, नाऊ, स्वपच जैसे अछूतों के साथ अँधे, लँगड़े तथा लूले* जैसे खुशामदी टट्टुओं की बड़ी बहार है?—चापलूस कसरत से भरे हुए हैं? जिन ने कि "कवि शिवलाल" जी के शब्दों में—

जाट, जुलाहा, जुरे दरजी, मरजी मैं रहै चिक-चोर चमारौ;
दीनन की सुधि दीनीं बिसारि, सु ता दिन तै नहिं कीन गुहारौ।
को "सिबलाल" की बातै सुनै, इनहीं कौ रहै दिन-रात अखारौ,
एते बड़े करुनाकर कौ, इन पाजिन नैं दरबार बिगारौ।

*

कोरी औ चमार, चिरीमार कौ जु यार करि,
प्यार करि सदना-सुपच मन भाए है,
छिपिया, कहार, नाऊ, दाऊ कै सुदामा देखौ,
गिद्ध के अगाऊ ह्वै कैं जाइ गुन गाए हैं।

* जाट-धन्ना, जुलाहा—कबीर, दरजी—परमेष्ठी दिल्ली वाले। राका बाँका-छीपी, कहार—रघु, जगन्नाथपुरी वाली। नाई—नदा सेना और अंधे सूरदास जी वगैरह—

"घासीराम" राजी ह्वै विदुर-वर भाजी खाई,
पाजी भिलनी के बेर जूठे मुँह नाए है ;
कहिए कहाँ लौं कलिकाल के अँदेसे ऐसे—
नीचरंगी ठाकुर ठिकानैं होत आए है।

हाँ साहब ! वास्तव मे दरबार बिगाड़ रखा है—इन चापलूसों ने सारा मजा किरकिरा कर रखा है ? देखिये न, यदि आपको कोई गाली-गुफ्ता से भी अलंकृत करे तो ये अनोखे भव्य भाष्य-कार-भक्त, झट उस निन्दा को स्तुति में पलट देते हैं ? क्योंकि वे जानते हैं कि—

खुशामद ही से आमद है,
इसलिये बड़ी खुशामद है। —राधेश्याम कथावाचक

अस्तु, एक बार "रावण ने अशोक के नीचे बैठी हुई सशोक सीता के सन्मुख काफी कलई खोलते हुए आपकी सखावत की—विद्वद्वृन्द-विभूषित दिव्य दरबार की खूब धज्जीयाँ उड़ायीं थी। जैसे कि—

सुनौ देवि ! मोपै कछू दृष्टि दीजै ;
इतौ सोच तौ राम-काजैं न कीजै।
बसै दंडकारन्य, देखै न कोऊ ;
जु देखै महा बावरौ होत सोऊ।
कृतघ्नी, कुदाता, कु-कन्याहि चाँहैं ;
हितू-नम्र, मुड़ीन हूँ कौ सदाँ हैं।
अनाथै सुन्यौ मैं, अनाथानुसारी ;
वसैं चित्त दंडी, जटा-मुंडधारी।
तुम्हैं देवि ! दूषैं हितू ताहि मानै ;
उदासीन तोसौं, सदाँ ताहि जानै।

महा निर्गुनी, नाम ताकौ न लीजै ;
सदा दास, मो पै कृपा क्यौं न कीजै।
अदेवी, नृदेवीन की होहु रानी ;
करै सेव बानी, मघौनी, मृडानी।
लिएँ किन्नरी ! किन्नरी गीत गावैं ;
सुकेसी नचै, उरबसी मान पावैं।

—रामचन्द्रिका

अर्थात्—रावण कहता है कि—हे देवि ! मुझ पर कुछ तो कृपा करो—जरा तो कृपा की कोर से, दृष्टि से देखो, राम के लिये इतना सोच न करो, क्योंकि वह तो वनवासी है वनवासी ? उसे कोई देखता भी तो नहीं, पूछता भी तो नहीं, कोई सम्मान नहीं करता और यदि कहीं कोई उसे देख ले तो निश्चय ही बावला हो जाय ? क्योंकि तापस-भेष देखने में सुन्दर नहीं होता ? शृङ्गारमय नयनाभिराम नहीं होता ? अस्तु—

"जु देखै महा बावरौ होइ सोऊ"

—अरे, वह तेरा प्यारा पति ! जिसे कि तू जी से भी बढ़कर मानती है वह तो कृतघ्नी है, कृतघ्नी ! * क्योंकि जिस प्यारी-प्यारी सहानुभूति से तू उसके साथ वनवास निमित्त, पीहर और मायके के सारे सुखों पर लात मारकर आई ? पर, उसने इसका

---

* भगवान श्रीरामचन्द्रजी स्वयं एक जगह "कृतघ्नी" बने हैं, देखिये—

प्रिया विरहितस्याद्य, हृदिचिन्तासमागता ;
इतिमत्वागता निद्रा के कृतघ्नमुपासते। —शीला-भट्टारिका

अर्थात्—मुझे प्रिया-विरहित जान हृदय में चिन्ता आ गई—समा गई और सौतियाडाह से निद्रा चली गयी, ठीक भी है क्योंकि—कृतघ्नो का साथी कौन होता है ?

जरा भी खयाल न कर निर्जन वन में अकेली छोड़ शिकार के निमित्त चला गया ? तुम्हारी तनक भी पर्वाह न की ? फिर कृतघ्नी नहीं तो क्या है ? कुदाता तो प्रत्यक्ष ही दीखता है, क्योंकि वस्त्राभूषण आदि अनुपम पदार्थ उसने कभी तुमको दिये ? आपकी खातिर में कभी पेश किये ? फिर भला "कुदाता" नहीं तो क्या है ? अरे कहीं "कुकन्याहि" चाहै—कुकन्या, पराई स्त्रियों का तो चाहनेवाला नहो है ? हाँ-हाँ शवरी आदि इसके भीषण प्रमाण हैं न ? और सदा नंग-धड़ंगे मुड़िया साधुओं का चाहनेवाला है अर्थात् राजसी ठाट-बाट पसन्द ही नहीं ? इसी लिए कहा जाता है कि—

"हितू नग्न, मुड़ीन हू कौ सदाँ है"

—अनाथ है, निराश्रय है, और अनाथों का ही आश्रयी है, राज-पाट कुछ नहीं ? तथा राजा महाराजों से मेल भी नहीं—रिस्ता भी नहीं ? सदा जटाधारी दण्डी और मुण्डियों का ही आश्रय है, वही जी में बसा करते है, तुम जैसी सुसुन्दर-रमणी को तो वहाँ स्थान ही नहीं ? कलेजे मे प्यार ही नही ? और हे देवि ! तुमको जो दूषण देता है—तुम्हारी जो निन्दा करता है, वही उसे प्यारे है, उन्हीं का मान करता है ? आपकी तो कुछ परवाह ही नही करते ? महा निर्गुणी है, महा निर्गुणी ! कोई गुण नहीं है, इसलिए उसका अब नाम ही मत लो—उसकी परवाह ही मत करो, अपितु मुझ सरीखे अपने दास पर कृपा करो, मैं निश्चय आपकी दासवत् सेवा करूँगा—पूजन करूँगा ? इसलिए मेरी ओर कृपा-दृष्टि कीजिये—कीजिये !

"सदाँ दास, मो पै कृपा क्यौं न कीजै"

अब जरा उक्त छंद से—इस खरी-खोटी से खचित रावण के उक्त वाक्य से, आपके उन दरबारी चापलूसों ने क्या मतलब

निकाला, कैसे उक्त छंद के अर्थ को पलट कर खुशामदीपन की हद दिखलाई कि—"सुनौ देवि ! मो पै कछू दृष्टि दीजै" अर्थात् हे देवि ! मुझ पर कृपा दृष्टि करो और शीघ्र करो, जिससे कि इस निश्वर-शरीर से जल्दी-से-जल्दी मुक्ति पा जाऊँ। यदि कहो कि, मुक्ति तो "राम-भजन" से मिलेगी! उन्हीं का भजन कर, यहाँ मेरा निवेदन है कि मैं राम-भजन की, आपके भजन के आगे चिन्ता नहीं कर सकता—आपके सुकोमल भजन को विहाय, राम के गहन भजन की आवश्यकता नही समझता, कारण कि वह महान् कठिन है। दंडकारण्य वन में कोई एक पाँव से खड़ा होकर उनको भज रहा है तो कोई नेती-जोती द्वारा चित्त की शुद्धि कर सिर के वल खड़ा हो उनकी अगम्य उपासना मे पड़ा तड़प रहा है। कोई इड़ा-पिंगला में प्रयुक्त नाना नाड़ियों का अवरोधन कर सुषुम्ना के सहारे त्राटक के फाटक को वन्द कर उनके आह्वान का अलाप शून्य में अलाप रहा है, तो कोई कर्म उपकर्म की धज्जियाँ धूल-धूसरित कर—"विकर्मो गहनो गुहः" की उधेड़बुन में लगा श्वास-प्रश्वास को रोके उसकी अनंत—कभी खत्म न होनेवाली याद पर मर रहा है। कोई त्रिकुटी की त्रिरेखा को पार कर उन्हे पाने को लालायित है तो कोई ब्रह्म-रन्ध्र मे प्राण और अपान वायु को बसाकर उन्हे हथियाने को हाथ-पाँव मार रहा है। कोई "अखिल-अंड-ब्रह्मंड" मे समाया समझ जगह ब जगह पुकारता फिर रहा है तो कोई—

"निरगुन अहै उपाधि रूप सरगुन है उनकौ"

—समझ नवधा भक्ति द्वारा उन्हे अपनाने मे उलझ रहा है। कहाँ तक गिनाएँ देवि कहाँ तक गिनाएँ ! नाना-भाँति से

उनकी अनेक कष्टदायक उपासना की जाती है पर, पाने की—दर्शन की, तो बात ही क्या "पते" का भी पता नही चलता, नहीं चलता ? और यदि कहीं उसे पा लिया जाय वा देख लिया जाय, नजर मे जरा अटकाया भी जाय तो फिर बावला बनाये क्या मानता है ? अजी पागल कर देता है, पागल ! शंकर सदृश ही पगले-प्रेमी, खोजक, उन्हें पा सकते हैं, उनके सुदर्शन—दिव्य दर्शन पा सकते हैं। भला मुझ जैसे तामसी प्रकृति वाले अधमाधम को कहाँ उनके पावन दरशन मिल सकते है ? इस लिये मैं आपकी ही शरण हूँ, क्योकि आप बिना तपश्चर्या के सामने समुपस्थित हो, अतएव प्रार्थना है कि मुझ पर दया-दृष्टि—कृपा-दृष्टि द्वारा इस भव्य-भव से मुक्ति दीजिये। क्योकि—

कहु "रहीम" कैसैं निभै, बेर-कैर कौ संग ;
वे डोलत रस आपुने, उनके फाटत अंग।

राम कृतघ्नी हैं ? अर्थात कृतं हनतीत-कृतघ्नी, कृत-कर्म और घ्नी यानी नाश करने वाले, जन्म-मरण आदि कर्मों का नाश करने वाले है—मुक्ति देने वाले हैं। कुः दाता—कु—पृथ्वी* के देने वाले है, अर्थात्—आश्रित को पृथ्वी ही क्या सब कुछ दे डालते हैं कुछ बाकी ही नहीं रखते ? फिर कुदाता क्यों न हो ? और कु-कन्या यानी

* पृथ्वी नाम—

भूर्भूमिरचलाऽनन्ता रसा विश्वम्भरा स्थिरा ;
धरा, धरित्री, धरणि· क्षोणिर्ज्या काश्यपी क्षिती।
सर्वसहा, वसुमती वसुधोर्वी, वसुन्धरा ;
गोत्रा "कुः" पृथिवी, पृथ्वी, क्ष्माऽवनिर्मेदिनी मही।

—अमरकोष

पृथ्वी की कन्या ❀ आप (सीता) को चाहने वाले हैं । हरदम हृदय में "श्रीवत्सलाच्छनं" की तरह धारण किये रहते हैं ।

पलक न लगत, पलक बिनु देखें...

—की सी दयनीय दशा आपके बगैर रहती है । क्षण भर भी आँखों से अलग नही रख सकते, और आप पर ही नहीं, अपना सर्वस्व न्यौछावर करने वाले—सांसारिक परम पदार्थों को केवल उनके नाम पर तृणवत् परित्याग करने वाले नंगे—दंडी, मुण्डी अर्थात् साधु सन्यासियों के परम हितू हैं । स्वयं अनाथ हैं—आपके ऊपर कोई नाथ वा मालिक नही हैं, परम स्वतन्त्र हैं ।

"आगे अगा न पीछे पगा"

—वाले हैं, पर अनाथों का आश्रय ही नहीं उनका सदा अनुसरण करने वाले हैं—उनके पीछे-पीछे पग-पर-पग रखते हुए सदैव चलने वाले हैं ? जिससे कि उनको कोई दुःख न हो; और दंडी सदृश जटा मुण्डधारी श्री शिव जी के तो मन में निरंतर निवास करते ही हैं उसका क्या कहना ?

हे देवि ! श्रीराम उन्ही को हितू—अपना हितकारी, मानते हैं, जो कि आपके लक्ष्मी स्वरूप को दोषपूर्ण समझकर धन-सम्पत्ति

❀ श्री सीता जी की उत्पत्ति पृथ्वी से बतलायी जाती है यथा—

न्यास भूतं तदा न्यस्तयस्मार्क पूर्वजे विभौ ;
अथ मे कृपतः क्षेत्रं लाङ्गलादुत्थितातत: ।
क्षेत्रं शोधयता लब्धा नाम्ना सीतेति विश्रुता ;
भूतला दुत्थिता सा तु व्यवर्धत यमात्मजा ।

—वाल्मीक रामायणे

की इच्छा नही करते, अथवा चंचल लक्ष्मी※ स्वरूप आपको मान-कर आप से उदास रहते हैं—पृथक् रहते हैं। महा निर्गुणी—सत, तम, रजादिक गुणो से परे त्रिगुणातीत हैं, वैसे तो अनन्त-नाम हैं ? पर वास्तव में उनका नाम ही नहीं ? जिससे कि वे जपे जा सकें। पूर्ण निर्गुण—ब्रह्म है, ब्रह्म ! उनके नाम कैसे लिए जायँ ? अतः उनकी उपासना मुझसे न हो सकेगी। इसलिए आपको प्रत्यक्ष मूर्तिवान सगुण रूपा साक्षात स्वरूप को सामने समुपस्थित पाकर उन अगोचर, अगम्यःगम्य का विचार न कर, आप से ही करबद्ध प्रार्थना करता हूँ कि आप मुझे दास समझ कर क्यो न कृपा कीजिये ? अपितु कीजिये, कीजिये—

"सदाँ दास मोपै कृपा क्यौ न कीजे"

देखा सरकार ! अपने दरबारियों के इस खुशामदीपने को—इन भव्य भाष्यकारों के अंट-संट अर्थ को, देखा न ! अजी ! इसी तरह इन्द्रप्रस्थ मे युधिष्ठिर के रम्य राजसूय-यज्ञ के समय, अनेका-नेक विशिष्ट पुरुषो के सन्मुख दमघोष-सुत शिशुपाल द्वारा कही गयी उन कलेजे में काट करनेवाली कटु उक्तियों का भी आपके इन मुँहलगे चाटुकारी दरबारियों ने इसी प्रकार अर्थ का अनर्थ कर डाला था—उस अन्तर्वेधी अनुपम कटुक्तियों को इसी तरह स्तुति मे बदल डाला था ? देखिये-देखिये ! जैसे कि—

※ चंचला लक्ष्मी की अनस्थिरता पर "रहीम" ने बड़ा सुन्दर दोहा कहा है। यथा—

कमला थिर न "रहीम" कहि, यह जानत सब कोइ।
पुरुष पुरातन की तिया, क्यों न चंचला होइ।

इत्थं निशम्य दमघोषसुतः स्व पीठा—
दुत्थाय कृष्णगुणवर्णनजातमन्युः ;
उत्क्षिप्य बाहुमिदमाह सदस्यमर्षी ,
संश्रावयन्भगवते पुरुषाण्य भीतः ।

ईशोदुरत्ययः काल इति सत्यवती श्रुतिः ;
वृद्धानामपियद्बुद्धिर्बालवाक्यैर्विभिद्यते ।

यूयं पात्रविदां श्रेष्ठा मा मन्ध्वं बालभाषितम् ;
सदस्यस्पतयः सर्वे कृष्णो यत्समतोऽर्हणे ।

तपोविद्याव्रतधरान्ज्ञानविध्वस्तकल्मषान् ;
परमर्षीन्ब्रह्मनिष्ठान्लोकपालैश्च पूजितान् ।

सदस्पतीनतिक्रम्य गोपालः कुलपांसनः ;
यथा काकः पुरोडाशं सपर्यां कथमर्हति ।

वर्णाश्रमकुलापेतः सर्वधर्मबहिष्कृतः ;
स्वैरवर्ती गुणैर्हीनः सपर्यां कथमर्हति ।

ययातिनेषां हि कुलं शप्तं सद्भिबहिष्कृतम् ;
वृथा पानरतं शश्वत्सपर्यां कथमर्हति ।

ब्रह्मर्षिसेवतान्देशान्हित्वैतेऽब्रह्मवर्चसम् ;
समुद्रं दुर्गमाश्रित्य बाधन्तेदस्यवः प्रजाः ।

—श्रीमद्भागवते १०।७४।

अर्थात्—दमघोष-सुत शिशुपाल, अपने आसन से उठ और अपनी विशाल-बाहु-वल्लरी को ऊंची उठा, सभा में निर्भीक हो, भगवान-प्रति कठोर वचनावली द्वारा विभूषित करता हुआ बोला कि—उफ, यह नाश न होने वाला वेद-प्रतिपादित समय बड़ा समर्थ्यवान् है, जिससे कि सभा में सुशोभित वृद्धजनों की बुद्धि एक बालक

के कहने से बदल गयीं। हे पात्रापात्र के जानने में प्रवीण श्रेष्ठ बुद्धि वालो ! आप जैसे तपस्वी, व्रत निष्ठ, ज्ञानी, महान् ब्रह्मज्ञ और लोकपालों से पूजित व ससम्मानित सदाचार्यों के बजाय, आज एक कुल मे कलंक लगाने वाले गोपाल को—गाय चराने वाले ग्वाले को, पूजा जा रहा है । देवताओं के योग्य पवित्र "पुरोडास"—बलि को, हविश्य को, काक—"कौए" के लिये दिया जा रहा है। जिसका न कोई वर्ण है और न कोई आश्रय है तथा न कोई कुल ही है, सारे धर्मों से बहिष्कृत यानी पृथक्—जैसे मन में आवे वैसा ही करने वाला गुण-रहित क्या सर्वोपरि पूजा के योग्य है ? महाराज ययाति ने जिसके कुल को शापित किया, सत्पुरुषो ने जाति बहिष्कृत किया, अस्तु ऐसे वृथा मदिरा पान करने वाले कलंकित कुल मे जन्म लेने वाला, यह काला-कलूटा कृष्ण क्या पूजा करने के योग्य है ? बताओ—बताओ । ब्रह्मर्षियो से संसेवित पवित्र देश का परित्याग कर समुद्र रूपी किले में आश्रय लेने वाले और चोरों की तरह प्रजा को लूट कर पुन: छिप जाने वाले यादव क्या पूजा के लायक है ? अर्थात् नही है ! नही है !! इत्यादि-इत्यादि ।

शिशुपाल की इन सीधी-सादी बातो को—इस कड़वी आलोचना को, आपके खुशामदी भक्तो ने इस प्रकार बदला, उक्त निन्दा को स्तुति मे इस तरह पलटा कि—

"—अस्यैव वास्तवोऽर्थः पूर्ववद्‌ज्ञेयः। गोपाल इति—वेदपृथिव्यादि पालक इत्यर्थः। कुत्सितं—वेदविपरीतं लपंतीति कुलपा:, पाखण्डास्तान् अंसते समाघातयतीति तथा सः। अकाक —कं च, अकं च, काके—सुखदुःखे ते न विद्यते यस्य सोऽकाकः—आप्तकाम इत्यर्थः । स तथा आप्तकामो देवयोग्यं केवलं पुरोडाशमात्रं नार्हत्यपि तु सर्वस्वमपि तथायं श्रीकृष्णोऽपि ब्रह्मर्षियोग्यं

सपर्यामात्रं कथमर्हति–किंत्वात्मसमर्पणमप्यर्हतीत्यर्थः। वर्णाश्रमकुलेभ्योऽपेतो ब्रह्मत्वात्। अनामगोत्रम्—इति श्रुतेः। अत एवानधिकारित्वात्सर्वैर्धर्मैर्बहिष्कृतः, स्वैरत्वात्। अतएव निर्गुणस्तम-आदिरहितः। एवं भूतो जीवानां योग्यं तुच्छं सपर्यामात्रं कथमर्हतीत्यर्थः। अपि च कथं वर्णनीयो भादृशैरेषां यदूनां महिमा यस्मादेषांकुलं ययातिना शप्तमपि किं सद्भिर्बहिष्कृतमपि तु शिरसा धृतम्। किं चास्मादादिकुलवत्किं वृथा पानरतमपित्वतिनियताचारमित्यर्थ। अहो यदूनामेव तावदीदृशं माहात्म्यम्। यदुकुलवृद्धस्य ययाते शापो न प्राभूदित्यादि। अयं तु साक्षादीश्वरोऽतः सपर्यामात्र कथमर्हतीत्यर्थः। किं च-ये राजानो दुष्टानुच्चाटयन्ति तदर्थं कीकटादिदेशानप्याश्रयन्ति एते तु ब्रह्मर्षि सेवितानेव देशानाश्रित्याब्रह्मवर्चस समुद्रं दुर्गमपि हित्वा हापयित्वेत्यर्थः। बाधन्ते तथा या दस्यवः प्रजास्ताश्च अयमर्थः, वेदस्तदर्थाभियोगो ब्रह्मवर्चसं समद्रं मुद्राऽत्रलिङ्गं तत्सहित समुद्रम्। वेदविरुद्धंलिङ्गधारिणं पाखण्डमित्यर्थः तल्लिङ्गं त्याजयित्वा बाधन्ते, दण्डयन्ति, कथ भूतं दुर्गं—धर्मवत्प्रतीतेरधर्मतया दुर्ज्ञेयमित्यर्थः। तथा दस्यवो—दस्यूनपि प्रजा वेषेण वर्तमानात् दण्डयन्ति, अतो यदुभ्योऽन्यः केनाम धार्मिकोऽस्तीति, पारुष्यंतूक्तार्थमेव।"

—श्रीधरस्वामी

अर्थात्—आप लोग इन्हें निरा गोपाल वा ग्वाल न समझना, अरे ये तो गो—वेद, पृथ्वी और इन्द्रियों के "पालक" हैं, स्वामी हैं! वेद से विपरीत चलने वाले वा कहलाने वाले पाखण्डियों को निहत करने वाले हैं। सुख-दुःख से रहित हैं, निर्गुणातीत हैं, पूर्ण काम हैं, आप्तकाम हैं; इसलिये आप केवल इस तुच्छ पुरोडाश—यज्ञ विभाग के ही अधिकारी नहीं। अपितु ब्रह्मर्षियो द्वारा आत्म समर्पण के योग्य—सर्वस्व समर्पण के लायक हैं। वर्ण, आश्रम और कुल, इन सब से परे त्रिगुणातीत है, पृथक् हैं। श्रुतियों ने आपको—"अनामगोत्रम्" आदि कहकर प्रसंशा की

है, जिसका कोई गोत्र नहीं, कुल नहीं, आश्रय नहीं, सम्पूर्ण धर्मों से बहिष्कृत अर्थात् पृथक् , जिसका कोई एक धर्म नहीं अपितु सब धर्म उसी के हों, उसी के आश्रित हों, सब से स्वतंत्र, स्वैरवर्ती और निर्गुण — गुण रहित, वह क्या इस प्रकार की साधारण पूजा के योग्य है ? श्रीमन्तो ! इनका पावन कुल "राजा ययाति" द्वारा अभिशापित होने पर भी परम पूजनीय है—असित अभिनन्दनीय है ! क्योंकि उक्त कुल कभी हम लोगों की तरह वृथा मदिरा पान से मखमूर व बदहोश नहीं होता। वह तो अत्यन्त नियमित आचरणीय हो धर्म मे ही रत रहता है और ब्रह्मर्षि-संसेवित देशों का आश्रय ले कठिनता से पहिचान मे आने वाले उन वेद-विरुद्ध चिन्हों से अपचिन्हित पाखण्डियों को जिनने कि धर्म-रत प्रजा के सदृश वेश रख लुटेरे पन मे निहित है, उनको दंड दे धर्म राज्य करते हैं ! अतः लोक-नमस्कृत यादवों से विशेष और कौन धार्मिक हो सकता है ? और कौन विशेष पूजा का अधिकारी हो सकता है ? आदि-आदि ।

उक्त अंटसंट अर्थ से अभिषिक्त इस चापलूसी से चर्चित वाक्यावली की बृहद्-पुष्पाञ्जलि द्वारा आप अपने "मय स्टाफ" के रावण वा शिशुपाल पर (इन लोगों के कथनानुसार) रीझे हों अथवा खीझे हों यही सही ! लेकिन इन अनूठे भले मानसों से, निन्दा को स्तुति मे समोने वाले भव्य भाष्यकारो से, अथवा खुशामद से खचित खयाली-खोमचे वालों से, कोई यह तो पूंछे कि—क्या भगवान् कृतघ्नी नहीं हैं ? अरे, व्रज मे नंद और यशोदा ने पलको पर रखे, जैसे कि—

ठाढ़ी लएँ खिलावत कनियाँ ;
प्रमुदित मन गावति जसुदा हरि-लीला मोंहनियाँ ।

काजर, तिलक, पीत तन झगुली, कनित-पाँइ-पैजनियाँ ;
हँसुली-हेम हमेल बिराजति, झर लटकन मनि मनियाँ।
हुलरावति, हँसि-कंठ लगावति, प्रीति-रीति-अति घनियाँ ;
चुबत-सुख "रघुनाथदास" बलि, बड़भागिनि नँद-रनियाँ।

अथवा—

जब मेरौ मोहन चलैगौ घुटुरुवन, तब हौ करौगी बधाई ;
सर्वसु वारि दैहुँगी ततछिन, कहि मैया तुतराई।
जसुदा-वचन सुनत "केसौ" प्रभु, जननि-प्रीति जानी अधिकाई ;
नंद-सुवन सुख दियौ मात कौं, अति कृपालु मो नंद-ललाई।

कुछ इससे भी विशेष अभिलाषा से अभिलषित "परमानंद दास जी" का पावन पद देखिये। वाह, कितनी अनुपम अभिलाषा है। यथा—

एकु समै जसुमति सखियनु सौं, बात कहित मुसिकाइ ;
मो देखति कबधौं मेरौ लालन ! भूमि धरैगौ पाइ।
पुनि मैया मोसौं कब कहि है, कुँवर कछू हँसि आइ ;
अरिहै दूध, दही के कारन, तन-गोरज-लपटाइ।
खिरक दुहावन मोहि जानि लखि, आइ मिलैगौ धाइ ;
वह धौं द्यौस होइगौ कबहूँ, ललन दुहैगौ गाइ।
सुँपिहै सुतै चरावन गैया, सुनि सजनी ! नँदराइ ;
यह अभिलाष करति जसुमति जिय "परमानँद" बलिजाइ।

अथवा—

देहौं दधि मधुर धरनि-धरयौ छोरि ख्वैहै,
धाम तै निकसि धौरी धेनु धाइ खोलि है ;
धूरि लोटि ऐहै, लपटै है, लटकत ऐहै,
सुखद सुनै है बैंनु, बतियाँ—अमोलि है।

"आलम सुकवि" मेरौ ललन चलन सीखै,
बलन की बाँह ब्रज-गलिनि मै डोलि है;
सुदिन, सुदिन-दिन ता दिन गिनौंगी माई!
जा दिन कन्हैया मोसौ मैया! कहि बोलि है।

उफ, कैसी चित्त में चुभने वाली चोखी चाहना थी, दादा! तुतलाई बोली से मैया-मैया सुनने की—अपने छगन-मगन के आँगन मे घुटुवन से जरा चलने की, कैसी हृदय हुलसा देने वाली अभिलाषा रखती थी। और किसी कलुषित कामनी की "कनुवा" को नजर न लग जाय इस डर से कभी उस (मैया) ने उजले कपड़े नहीं पहिनाये और आँगन मे ही अपने छगन-मगन को गोद में लिये अपूर्व प्रसन्नता से थिरकती हुई डोलती थी और कहती थी कि—

खेलनि जानि न देहौं लाल!
कालिह जो दृष्टि लगी मन-मौंहन, दियौ चखौड़ा गाल।
ताही तै नहि पट पहिरावति, नहिं भूपन गल-भाल;
"आस-करन" प्रभु जतन करति हौं, मौहन मदन गुपाल।

और देखो-देखो दादा! उस दिन किसी जोगिया को नजर लगने पर मैया कैसी बावली हो गयी थी—कितनी बेचैन होगयी थी? सो "सूरदास जी" से सुनिये। यथा—

काहू जोगिया की नजर लगी, मेरौ बारौ कन्हैया रोवै री!;
घर-घर हाथ दिखात जसोदा, दूध पीऐ नहि सोवै री।
राई-नौंन उतारति मैया! कहति जोगिया को है री;
"सूर" प्रभु कौ यहै अचंभौ, तीन लोक सब मोहे री।

—और किसी को छूने तक न देती थी, किसी को पास तक न फटकने देती थी, तथा बार-बार कहती थी कि—

माई ! मेरौ गोपाल—लड़ैतौ ;
अपुनौ काहू छुवन न देहौं, लोग बड़े तौ, बड़ैतौ ।
मेरैंई गोरस बहुतेरौ, लैंन उधार न जाऊँ ;
राखौ कंठ लगाइ लाल कौं, पलना माँझि झुलाऊँ ।
परम बिचित्र पाँइ पैजनियाँ, चलन घुटुरुवन धइवौ ;
"परमानंद" नंद के आँगन, लै लै नाम बुलइबौ ।

अथवा—

रहि री ग्वालि ! जोबन-मद-माती ;
मेरे छगन-मगन से लाल हि, कित लै उछँग लगावति छाती ।
खीझति तै अब ही राख्यौ है, सोभित न्हैनी न्हैनी दूध की दाँती ,
खेलन दे री ! जाहु घर अपने, काहे कौ एतौ इतराती ।

—परमानंद दास

ओह! उस समय की आपकी रूप-माधुरी का वर्णन कैसे किया जाय ? किस तरह गाया जाय ? जब कि आप मैया के आगे नन्ही-नन्ही दो दँतुलियाँ विकसाते किलक-किलक पड़ते थे। अपनी निराली ठनगन से ठुमुक-ठुमुक चलते, पैजनियाँ झनक-झनक करते करते, गिरते और उठ उठ पड़ते थे, और मैया उस अतुलित-रूप-सुधा पान की ललित-लालसा से पीछे लगी-लगी डोलती थी—बावली हो-हो जाती थी जैसे—

झनक-मनक तनक से छगनाँ ;
न्हानी-न्हानी सोहै दूध की दतियाँ, किलकि-किलकि—
लागति छतियाँ, रज झारत री पगनाँ ।
गोद लएँ हुलरावै, खिलावै, कंठ सोहै कनक के बघनाँ ;
"सूरदास मनमोहन" सँग लागी लागी डोलै—
लाल घुटुवन चलत री नँद-अँगनाँ ।

उक्त भाव पर महाकवि—नंददासजी का भी एक पद याद आ गया है, जैसे कि—

छोटौ सौ कन्हैया ! कछु मुरली-मधुर-छोटी,
छोटे-छोटे ग्वाल-वाल, छोटी पाग सिर की ;
छोटे-छोटे कुंडल कान, मुनिन के छूटे-ध्यान,
छोटे-पट, छोटी-लट छुटी अलकन की।
छोटी सी लकुट हाथ, छोटे छोटे बछुवा साथ,
छोटे से कान्है गोपी देखनि आँई घर-घर की ;
"नंददास" प्रभु छोटे, भेद-भाव मोटे-खोटे,
खायौ है माँखन सो सोभा देखि बदन की।

इस तरह अनेक मानताएँ मना मना कर—नाना ठनगन पर बलिहार हो-हो कर, चपलतायुक्त चंटपने पर रीझ-रीझ करके शोखी पर आत्म-विस्मृति कर-कर रखा। उधर गोप बालाओं ने, उन गरबीली-ग्वालिनों ने, क्या कुछ कम पलक-पाँवड़े बिछाये थे ? क्या कुछ कम लाड़ लड़ाया था ? सारी चेष्टा-हरकतों को हुलसाये-हृदय से बरकाये, नयनों का तारा—कलेजे का टुकड़ा बनाये, सौ-सौं जान से फिदा हो यही "दुआ" माँगती थी ! यही गोद पसार-पसार कर भिक्षा की याचना करती थीं। कि—

अहो विधना ! तोसौं अँचरा पसार माँगौ,
जनम-जनम दीजो मोहि याही ब्रज बसिवौ ;
अहीर की जाति, समीप नंद घर,
हेरि-हेरि स्याम सुभग, घरी-घरी हँसिवौ।
दधि के दान मिसि ब्रज की बीथिन,—
झकझोरन अँग-अँग कौ परसिवौ ;

"छीत स्वामि" गिरिधरन श्री विट्ठल,
सरद रैन रस रास विलसिबौ।

—और पलक-ओट होते ही कुछ ऐसी विचित्र दशा हो जाती थी कि कुछ कहा नही जाता। अरे, अपनपा भूल जाती थी अपनपा, देखिये न! जैसे कि—

माई री! स्यामा, स्याम-स्याम रटति स्यामा स्याम भई;
अपनी सखिन सौं पूंछति डोलति, स्यामा कहाँ गई।
व्रज-बीथिन मै ढूँढति डोलति, बोलति राधे-राधे;
रही विचारि, निहारि, सोच करि, सीख सकल मन साधे।

क्योंकि—

प्रेम-लगन जाके मन लागै, ताहि कहौ सुधि कैसी;
कहि "भगवान हित रामराइ" प्रभु, लगन लगै जब ऐसी।

अथवा—

औचक अगाध-सिन्धु स्याही कौ उँमगि आयौ,
तामैं तीनौ लोक बूड़िगये इक संग मै,
कारे-कारे कागद लिखे ज्यौ कारे आखर,
सुन्यारे करि बाँचै कौन नाँचै चित भंग मैं।
आँखिन मै तिमिर अमावस की रैनु अस—
जंबू-रस-बूंद जमुना जल-तरंग मैं,
यौहीं मन मेरौ मेरे काम कौ न रह्यौ 'देव"
स्याम रंग ह्वै कैं समानौ स्याम रंग मैं।

अथवा—

भृगी-भै तैं भृंग होत, ज्यौ कीट महा जड़,
कृष्ण-प्रैम तै कृष्ण भई, नहिं कछु अचरज बड़।
—नंददास

और तो और, गौएँ चराने के लिये वन में घूमते जो तृण, अंकुर और कंटक गड़ते थे—लगते थे, उनकी करुण-दशा को याद कर-कर के कलेजा मसोस-मसोस कर रह जाती थी। और बार-बार कहती थीं कि—

चलसि यद्व्रजाच्चारयन्पशून्—
नलिनसुन्दरं नाथ ते पदम्;
शिलितृणाङ्कुरैः सीदतीतिनः,
कललितां मनः कान्त! गच्छति।

श्रीमद्भागवते १०।३१।११

अर्थात्—

जब पसु चारन चलत, चरन धरि कोमल बन मैं;
सिल, तृन, कंटक अटकत, कसकत, हमरे मन मैं।

और—

जब तुम कानन जात, सहस जुग सम बीततु छिन;
दिन बीततु जिहि भाँति, हमहि जानैं पिय! तुम बिन।—नंददास

अथवा—

जब कही चलो, गौ चरात हो,
मृदुल कंज से पादु मञ्जु सो;
श्रमित होंय वो, भू कठोर सौं,
विकलता हमें, नाथ! होत सो।

— कन्हैयालाल पोद्दार

अस्तु—

यत्ते सुजात चरणाम्बुरुहं स्तनेषु—
भीता शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु;
ते नाटवीमटसितद्व्यथिते न किंस्वित्-
कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः।

उफ ! कैसी कोमल भावना है, आन्तरिक-प्रेम-पीड़ा का कैसा अद्भुत प्रदर्शन है। वाह ! कैसी अद्भुत आकांक्षा है—प्रेमी हृदय की कितनी अनुपम अभिलाषा है कि कुछ कहा नहीं जाता। प्रेम-सरोवर के लालसा-जल से भींने और इच्छा-अनिल द्वारा बिताड़ित हृदय-कुंज की क्या सुन्दर शोभा है वाह ! अस्तु—

क्यो बताते हो इख्तिलात बहुत ;
हम को ताक़त नहीं जुदाई की । —दाग

गोपियाँ कहती हैं कि प्रिय ! आपका चरण-कमल इतना सुन्दर और इतना कोमल है कि हम उन्हे अपने कठोर और करकश "उर" ऊपर धरते—रखते, बड़ा डर होता है कि कहीं इन कठोर-कुच-युग्म की करकश गढ़न से आपके कोमल पाद-पद्म को तकलीफ न पहुँचे ! परन्तु आप इस कमनीय कारण का कुछ भी ख्याल न कर उन कँकरीली और कटीली जगहों पर गाय चराते जहाँ-तहाँ डोलते फिरते हो, उसकी व्यथित-व्यथा को आप नहीं हम जानती हैं हम। अस्तु शीतल, सुन्दर और तापनाशक तथा सुगन्धयुक्त इन कोमल पाद-पद्म को हमारे हृदय तल में ही अभिशिक्त कीजिये—इन नाजुक चरणार्विन्दों को हमारे चित्त में ही चर्चित रहने दीजिये ! क्योंकि—

सिल, तृन, कंटक अटकत, कसकत हमरे मन मैं।

अथवा—

जानति है हम तुम जो डरत ब्रजराज दुलारे ;
कौमल चरन सरोज, उरोज कठोर हमारे।

अस्तु—

सनैं-सनै पग धरहु, हमहिं हूँ निपट पियारे ,
कित अटवी मैं अटत, गड़त तृन, कूप अन्यारे। —नंददास

—लेकिन आपने यह सब कुछ न माना, सारा खामखयाली खुराफात समझ और इस पावन प्यार को—सरस स्नेह को, मिट्टी में मिला, खाक मे खचित कर, कैसे रूखे-सूखे मुँह से आप यह कह कर चलते बने कि—

नंद ! अब गैयनु लेहु सँभारि ;
हौं जु तिहारै आनि प्रगट्यौ, गैयाँ चराईं दिन चार ।
दूध दही मैं बहुत हि खायौ, बहुत कीनी रार ;
मातु, पितु तुम चरित उर सौं, डारि हौं न बिसार ।
कोकला सुत काग पालै, अंत होत परार ;
तिहारैं जसुमति आनि बिरुमे, दृग न आँसू ढार ।
को पिता, को पुत्र काकौ, देखि मन हि विचार ;
"सूर" के प्रभु चले ब्रज-तजि, कपट-कागद फार ।

बाबा तो यह सुनकर इकटक ठगे से ठाड़े रह गये—परन्तु यशोदा, जिसे कि आप मैया-मैया कह कर पुकारते मुख सूखता था उसकी दयनीय दशा देखने ही लायक थी । कैसी कारुणिक आजिज भरी आरजू के साथ जने-जने का मुँह टकटोहती हुई पाँव पड़-पड़ कर कहती फिरती थी कि—

"है कोऊ ब्रज मैं हितू हमारौ, चलत गुपालै राखै"

ॐ

जसुदा बार-बार यौं भाँखे ;
है कोऊ ब्रज मैं हितू हमारौ, चलत गुपालै राखै ।
कहा काज मेरे छगन-मगन कौ, नृप मधुपुरी बुलायौ ;
सुफलक सुत मेरे प्रान हनन कौ, कालरूप ह्वै आयौ ।
बरु ये गोधन हरौ कंस सब, मोहि बंद लै मेलै ;
इतनौं हीं सुख कमल-नैन मेरी अँखियन आगैं खेलै ।

वासर बदन विलोकति जीऔ, निसि निज अंकम लाऊँ ;
तेहि बिछुरत जो जिऔ करम बस, तौ हँसि काहि बुलाऊँ ।
कमल-नैन गुन टेरत-टेरत, अधर बदन कुम्हलानी ;
"सूर" कहाँ लगि प्रगट जनावै, दुखित नंद की रानी ।

अथवा—

नाहिं कोउ स्यामै राखै आइ ;
सुफलक-सुत बैरी भयौ मोकौ, कहति जसोदा माइ ।
मदन गुपाल बिनाँ घर आँगन, गोकुल काहि सुहाइ ;
गोपी रहीं ठगी सी ठाड़ी, कहा ठगोरी लाइ ।
सुन्दर स्याम राम लोचन भरि, बिनु देखै दोउ भाइ ;
"सूर" तिनहि लै चले मधुपुरी, हिरदै सूल बढ़ाइ ।

देखी साहब ! मैया की व्याकुलता भरी विकलता । जब कोई अन्य रोकने वाला अवलंब न लखा, और सब तरफ से निराश, हताश मैया हो गयी, चारों तरफ आँख फाड़-फाड़ कर देखने पर भी कोई इस दुःख-सागर से पार लगाने वाला, धीरज धराने वाला; नजर न आया तो पुनः निष्ठुर से ही कहने लगी कि—

मोहन ! इतनौ मोह चित धरिऐ ;
जननी-दुखित जानि कैं अजहूँ, मथुरा-गमन न करिऐ ।
यह अक्रूर, क्रूर-कृति रचि कै, तुमहि लैन यहँ आयौ ;
तिरछे भए करम-कृत पहिले, बिधि यह ठाट ठटायौ ।
बार-बार जननी कहि मोसौं, माँगत माँखन जौन ;
"सूर" तिनहिं लैबेकौ आयौ, करि है सूनौ भौन ।

अथवा—

गुपालराइ ! किहि अबलंबौ प्रान ;
निठुरे बचन कठोर कुलसि तैं, कहत मधुपुरी जान ।

जिहि मुख तात कहत ब्रज-पति सौं, मोहि कहत हे माइ ;
तिहि मुख चलन सुनत जीवति हौ, बिधि सौं कहा बसाइ।
को कर-कमल मथानी धरि है, को माँखन अरि खैहै ;
बरखत मेह बहुरि ब्रज-ऊपर, को गिरिवर कर लैहै।
हौ बलि-बलि इन चरन-कमल की, यहँ ही रहौ कन्हाई !
"सूरदास" अवलोकि जसोदा, धरनि परी मुरझाई।

—लेकिन वाहरे निष्ठुर ! मैया के इस कारुणिक चित्र पर एक सरसरी नजर भी न डाली—आँख उठाकर इस दयनीय दशा को देखा भी नहीं। अब तो उस की व्याकुलता का पारावार ही न रहा ! अस्तु, अक्रूर से ही पूछने लगी कि भाई ! तुमही बताओ कि मेरे प्राण-प्रिय लाल को, मन मानस की अनुपम मणि को, हरते—चुराते, क्या हाथ आयेगा ? कौन सा दैव-दुर्लभ—नफा उठाइयेगा ? बताओ—बताओ !

जसुमति ! अति ही भई बे हाल ,
सुफलक-सुत यह तुमहि बूझियै, हरत हौ मो बाल।
ए दोउ भैया ब्रज के जीवन, कहति रोहिनी रोइ ;
धरनी गिरति, उठति अति व्याकुल, कहि राखत नहि कोइ।
निठुर भयौ जब तैं यह आयौ, घर हू आवत नाहिं ;
"सूर" कहा नृप काम तिहारौ, हम तुम बिनु मर जाहि।

और भैया दउवा ! इस गाढ़े समय—इस कठिन अवसर पर तु ही काम आजा ! अरे, मैं तेरी भी तो महतारी हूँ ! तेरी भी तो पालने वाली हूँ ! अरे, आज मैया-मैया कहने का इतना नाता निभाह दे ! ममता का माँप इतना तो परखा दे ! कि—मेरे "कनुवाँ" से इतना पूछ कर बतला दे कि—

"कन्हैया ! क्यौं मेरी छोह बिसारी"

꙳

कन्हैया ! क्यौं मेरी छोह बिसारी ;
क्यौ बलराम ! कहत तू नाही, (अरे) मैं तुम्हरी मैहतारी ।
तब हलधर, जननी परबोधत, मिथ्या यह संसारी ;
ज्यौ सॉवन की बेलि प्रफुले, फूलति है दिन चारी ।
हम बालक, तुम कौ का सिखवैं, अहैं तुम हीतै जात ;
"सूर" हृदे धीरज धरि जननी ! काहे कौं विलखात ।

सच है भैया ! सच है, कि—

"कारौ कृतहि न मानै"

꙳

सखीरी स्याम कहा हित जानैं ;
कोऊ प्रीति करे कैसैहूँ, वह अपनौ गुन ठानैं ।
देखौ या जलधर की करनी, बरखत पोखे आनैं ;
"सूरदास" सरबसु जो दीजै, कारौ कृतहि न मानै ।

—और "रावण" ने "कुदाता" कहने में ही क्या भूल की थी ? बताओ-बताओ ? कभी इन कृपा-निधान ने अपने भक्तों को—द्वार पर पड़े-पड़े चिल्लाने वाले अनन्यों को, कभी एक कानी कौड़ी भी दी ? उलटे सब कुछ छीन-छान कर संसार से विरक्त बना देते हैं—बाबा जी बना छोड़ देते हैं । भैया ! हमने तो जितने भी आपके भव्य भक्त देखे—निरखे, वे सब लगोंटी लगाये टुकड़े-टुकड़े के मुहताज ही नजर आये । जैसे—

सीस पगा न झगा तन मैं प्रभु ! जानैं को आहि ! बसै किहि ग्रामा !
धोती फटी सी लटी दुपटी, अरु पाँइ उपनाह की नहिं सामा ।

द्वार खरौ द्विज दुर्बल देखि रह्यौ चकि सौ बसुधा अभिरामा ;
पूँछत दीन दयालु कौ धाम, बतावत आपनौं नाम सुदामा ।
—नरोत्तम

अस्तु—

गेहे टूटी खटोली कुथलसयुक्ता—चीथड़ो के बिछौना ;
कव्यां फाटी लगोटी, सिरसि न टुपिया खण्ड-खण्ड दुपट्टा ।
सूखी रोटी चणा की लवण विरहिता, प्राप्यते वासरान्ते ;
यद्यपि ऐसी व्यवस्था, तदपि "सुदामा" नैव गर्वं जहाति ।
—कृष्ण कवि

——पर बेचारे होते हैं बड़े संतोषी, किसी से शिकायत के शरूर में आकर कुछ कहते सुनते नहीं ? अपने हाल मे ही मस्त रहते हैं मस्त ! जैसे कि—

गर उसने उढ़ाया तो लिया ओढ़ दुशाला ;
कम्मल जो दिया तो वही कधे पै है डाला ।
चादर जो उढ़ाई तो वही हो गई बाला ;
बँधवाई लँगोटी तो वहीं हँसके सँभाला ।
पोशाक मैं, दस्तार मै, रूमाल मे खुश हैं ;
पूरे है वही मर्द जो हर हाल में खुश है ।

अथवा—

जो फुक्र में पूरे हैं वो हर हाल में खुश हैं ;
हर काम में, हर दाम मे, हर जाल में, खुश हैं ।
गर माल दिया यार ने, तो माल मे खुश हैं ;
वेजर जो किया तो उसी अहवाल मे खुश हैं ।
इफलास में, अदबार मे, एकबाल में, खुश हैं ;
पूरे है वही मर्द जो हर हाल मे खुश हैं ।

गर यार की मर्जी हुई सर जोड़ के बैठे ;
घर-बार छुड़ाया तो वहीं छोड़ के बैठे।
मोड़ा उन्हें जिधर वहीं मुँह मोड़ के बैठे ;
गुदड़ी जो सिलाई तो वही ओढ़ के बैठे।
और शाल उढ़ाई तो उसी शाल मे खुश है ;

❀

गर खाट बिछाने को मिली खाट मे सोए,
दूकाँ में सुलाया तो वो जा हाट में सोए।
रस्ते मे कहा सो तो वह जा बाट में सोए ;
गर टाट बिछाने को दिया टाट मे सोए।
और खाल बिछादी तो उसी खाल मे खुश है ;

❀

गर उसने कहा सैर करो जाके जहाँ की ;
तो फिरने लगे जंगलो-बन मारके झाँ की।
कुछ दस्ते-बियावाँ मे खबर तन की, न जाँ की ;
और फिर जो कहा सैर करो हुस्ने-बुताँ की।
तो चश्मो, रुखो, जुल्फो, खतो, खाल मे खुश हैं ;

❀

कशके का हुआ हुक्म तो कशका वहीं खींचा ;
जुब्बे की रजा देखी तो जुब्बा वही पहना।
आजाद कहा गर तो वही सर को मुँड़ाया ;
जो रंग कहा उसने वही रंग रँगाया।
क्या जर्द में, क्या सब्ज मे, क्या लाल मे, खुश है ;

—नजीर

—अरे हाँ साहब ! किसी से कुछ माँगते-वाँगते नहीं—सवाल-अवाल करते नहीं। उनकी प्रीति है तो कर करवा से ! झाड़

देने की इच्छा है तो आपकी उन पावन ब्रज-वीथियों की ! सिगार करने ख्वाहिश है तो आपके प्यारे वृंदावन से गुंज माल लेकर पहरने की ! और देखने की अमित अभिलाषा है तो तुम्हारी, तुम्हारी गौवों की, उनके बछड़ों की की; अथवा मृगों की, मृगशावकों की ! अन्य की नहीं, जैसे कि—

मन लगाइ प्रीति कीजै कर करवा सौं,
ब्रज वीथिन दीजै सौहनी ;
वृन्दावन सौं, बन उपवन सौं
गुंजमाल कर पौहनी ।
गो, गो-सुतन सौं, मृग, मृग-सुतन सौ,
और तन नैंकु न जौहनी ;
"श्रीहरिदास" के स्वामी-स्यामा कुंज-विहारी सौ—
चित ज्यौं सिर पै दौहनी ।

अथवा—

ऐसै ही बसिऐ ब्रज की वीथिन ;
साधुन के पनवारे चुनि-चुनि, उदर पोखियतु सीथिन ।
घूरन पै तै बींनि चिनगटा, रच्छा की जै सीतन ;
कुंज-कुंज प्रति लोट लगै उड़ि रज ब्रज की अंगीतन ।
नित प्रति दरस स्याम-स्यामा कौ, नित जल जमुना पीतन ;
ऐसैं हीं "व्यास" सचै तन पावन, ऐसैं ही मिलत अतीतन ।

हाँ साहव ! ब्रज की पावन-वीथियों में, कुंजो में, निकुंजों में यों ही दिन काट लेंगे—यूँ ही दिन-रात इस जिन्दगी को बिता देंगे ! हमे महलो-मकाँ की क्या जरूरत ? क्या आवश्यकता ? हाँ-हाँ भूख लगेगी तो साधु-संतो की जूठी पत्रावली से चावल के कनूकों को चुन-चुन कर खा लेंगे ! जाड़ा लगेगा तो घूरों पर से फटे-पुराने

चिथड़े बीनबान कर सीत से इस तन की रक्षा कर लेंगे ! आदि-आदि । पर, किसी से माँगेंगे नहीं—किसी से सवाल न करेंगे, न करेंगे ! क्योंकि—

अहसान नाखुदा का उठाये मेरी बला ;
किश्ती खुदा पै छोड़ और लङ्गर को तोड़ दूँ ।

—कोई शायर

क्योंकि—

दस्ते-सवाल सैकड़ों, ऐबों का ऐब है ;
जिस दस्त मे ये ऐब नहीं, वो दस्ते-गैब है ।

—कोई शायर

अथवा—

मुसीबत में इक इक से अहवाल कहना ;
मुसीबत से ये हैं मुसीबत जियादा । —हाली

इसलिये—

दौलत न दे मुझे, मगर ऐसी गनी बना ;
बे मुद्दआ हो दिल, तो जबाँ बे-सवाल हो ।

—हाफिज

—और हाँ, कुकन्या का चाहने वाला—प्यार करने वाला कह कर ही कौन सी निराली निन्दा कर डाली ? क्या इज्जत हतक कर डाली ? कहिये-कहिये ! कुब्जा कौन सी कुलीन, कौन सी सुन्दर और कौन सी अतीव स्वरूपा थी ? कौन सा ठाट-बाट, कौन सा राज-पाट था ? हाँ-हाँ कहिये, कहिये ! लेकिन अरे, आप क्या कहियेगा क्योंकि—

जैसौही नंद कौ पालक कान्ह औ तैसीय कूबरी कस की दासी ।

❀

प्रीति कुलीननि तैं निबहै, अकुलीन की प्रीति मै अंत उदासी ;
खेलत खेल गयौ अबही, हमैं जोग पठाइ बन्यौ अबिनासी।
त्यौं "कवि-ग्वाल" बिरचि बिचारिकै, जोरी जुराइ दई अति खासी ;
जैसौई नंद कौ पालक कान्ह, औ तैसीय कूबरी कंस की दासी।

अथवा—

नंद कौ पालक हो पहिलै, अब कंस की चेरी कौ चेरौ भयौ ;
ताकौ परेखौ कहा करिऐ सखी ! लाखन बार कौ हेरौ भयौ।
त्यौ "कवि ग्वाल" करै तौ कहा, वह साँपिन सौत कौ घेरौ भयौ ;
नेह, छली मनमोहन कौ, हमकौ सखी ! भूत कौ फेरौ भयौ।

एक और भी—

जैसे कौं तैसौ मिलै, तबही जुरत सनेह ;
ज्यौ त्रिभंग तन स्याम कौ, कुटिल कूबरी देह।

—पद्माकर

कुछ ऐसाही पद्माकर जी पुनः फर्माते हैं, देखिये न जैसे कि—

आवत उसासी, दुख लागै औ हाँसी सुनि—
दासी उर लाइ कहौ को नहिं दहा कियौ ;
कहै "पदमाकर" हमारे जानि ऊधौ ! उन—
तात कौ, न मात कौ, न भ्रात कौ कहा कियौ।
कंगिलिन कूबरी, कलंकिन, कुरूप, तैसी—
चेटकनि चेरी ताके चित्त कौ चहा कियौ ;
राधिका की कहवत कहि दीजे मनमोहन सौ,
रसिक-सिरोमनि कहाइ धौं कहा कियौ।

लेकिन हाँ, शिशुपाल ने क्षत्रियो की भरी भराई सभा में—मजलिशे आम में "गोपाल" कह दिया ! ग्वाला, गोप वा अहीर बता दिया ? उफ ! गजब कर दिया गजब ? क्योंकि आप—

"मथुरा कौ अधिकार पाइ, महराज भए"

—थे महाराज ! अस्तु उन्होंने गोपाल कह दिया—ग्वाले की उपाधि से विभूषित कर दिया ?

"गजब है, गजब है, सितम है, सितम है।"

बस प्यारे ! अधिक हो चुकी—विशेष हो चुकी, अब ज्यादह न कहलाओ, रहने दो दिल के गुब्बार दिल मे ही रहने दो भैया ! हाँ-हाँ घूंघट काढ़ लो, मुँह छिपालो—इधर उधर हो जाओ, क्योंकि—

"रहिमन" लाख भली करौ, अगुनी अगुन न जाइ ;

जैसे—

राग सुनत, पय पियत हू, स्याँप सहज धरि खाइ। —रहीम

—बुरा न मानना प्यारे ! बुरा, आपके लिये घूंघट-काढ़ना कोई नयी बात नहीं है—निराली बात नहीं है, अजी हजरत ! आपने तो कई बार साड़ी सजायी है, काजल लगाया है, माग पट्टी काढ़ी है और घूंघट काढ़-काढ़ कर अनेक छद्म लीलाएँ रची हैं ? जैसे कि—

मिठ-बोलनी ! नवल मनिहारी ;
भौंहैं गोल गरूर है, याके नैन चुटीले भारी।
चूरी लखि मुख तैं कहै, घूंघट मैं मुसिकाति ;
ससि जनु बदरी-ओट तैं, दुरि दरसत इहि भाँति।
चूरौ बड़ौ जु मोल कौ, नगर न गाहक कोइ ;
मो फेरी खाली परी, आई सब घर टोइ।
चुरी नील-मनि पहिरबे, लाइक नाहिन और ;
भगवन ! कोऊ लै चलौ मोहि दीसतु है इक ठौर।

जिहि नगरी रिझवार नहिं, सौदागर क्यौं जाँइ ;
वस्तु घनेरी गाँठि मैं, बिनु गाहक पछिताँइ ।
रंग साँवरी गुन-भरी, मनिहारी कुल-ओप ;
मुदित होतु सब देखि कै, यहि पुर गोपी, गोप ।
काहू पै न ठगाइ है, तेरी बुद्धि बिसाल ;
लाभ अधिक करि जाइगी, वेचि बड़े घर माल ।

मेरे मालहिं लेइ सो, जो म्हौ-माँगो देइ ;
ऐसी है कोऊ कामिनी ! ताकौ नाम प्रगट किन लेइ ।
बेचनि हारी काँच की, कहा अधिक इतराति ;
पौरि भूप वृषभानु की, लाखन वस्तु बिकाति ।
पुर बजार देखे नही, अति गरवीली नारि ;
व्यौपारिनि अबही बनीं, बात न कहति बिचारि ।
तोहि लै चलि हौं नृप-घरै, क्यौं जिय होति उदास ;
लैंहि लाड़ली राधिका, सौदा तेरे पास ।

इहि सुनिकै ठोडी गही, सुखित भई सब अंग ;
भलौ जु तेरौ माँनिहौं, लै चलि अपुने संग ।
लै गई पौरी भानु की, बात कही समुझाइ ;
गुनन प्रगट करि साँवरी ! लैहैं बेगि बुलाइ ।
हौं मनिहारी दूरि की, आई राज-दरबार ;
बेचौं चूरी, चूरला, कोउ लेउ जु होइ रिझवार ।
सुनि आई चित्रा-चतुर, तू चलि रावर माँझि ;
प्रात चुरी पहिराइयो, बसि रहि परगई साँझि ।

अलभ लाभ सौ पाइ कैं, हिय, जिय पायौ चैंन ;
रूखे से मुख तें कहति, गरजिन रचि-रचि बैंन ।
पर-घर बसति जु बलि गई, खिझै सकल परिवार ;
बड़े भोर ही आइ हौ, यह मन कियौ विचार ।

एकु बार भीतरि जु चलि, प्यारी सौं बतराइ ;
भली लगै सो कीजियो, लागि लाडिली पाइ ।
चली जु झूमति, झुकति सी, बैनी सरकति पीठ ;
घूँट अमी कौ सौ भर्यौ, जब मिली दीठि सौ दीठ ।
भौंत हँसी नव-नागरी, देखी परम अनूप ;
कै बेचति चूरी सखी ! कै बेचति अप-रूप ।

मोहि खिलौंना जिनि करौ, राज-कुँवरि बलि जाउँ ;
तन थाक्यौ बासर गयौ, सोहि फिरति सब गाउँ ।
मुख देखति तुव डहडह्यौ, लगत चीकनौ गात ;
थाकी, कौन बतावही कछु ऊपर कीसी बात ।
हौं तौ सूधे जिय की, घट बढ़ समुझति नाहिं ;
तुम्हैं कछू दरस्यौ कहा, कपट जु मो हिय माँहिं ।
रँग पहिराऊँ चूरला, चोखी बनिज कमाउँ ;
चोखी प्रीति जु आदरौं, नाहिं कपट पतियाउँ ।
मेरे जिय यह टेकि है, कहैं देति हौ साँचि ;
हौ भूँखी सनमान की, नहि सहौं झूँठ की आँचि ।
आउ-आउ री ! निकट तू, देखौं बदन निहारि ;
एकु बात मै तू चिढ़ी, अमरस हिय तै टारि ।
सीतल होहु ब्यौपारिनी ! तेरौ ऐसौ काम ;
"तमक" नई यह बैस की तजि, फिरनौ सब धाम ।

हौं आई तकि राज-घर, करन प्रथम पहिचानि ;
मन लीएँ हीं बिन करी, हँसी होइ हित-हानि ।
कासौं हैं ! तै हित कियौ, अब लगि परी न दृष्टि ;
बात कहति उरझै सखी ! रची कौंन बिधि सृष्टि ।
अब अपनी करि हित कहौ, भूषन जुवति-समाज ,
सब बिधि पूरन होइ तौ, मो मन बाँछित काज ।

मनि-चौकी बैठी कुँवरि, दीन्ही भुजा पसारि ;
काढ़ि चुरी अति सौहनी, पहिराई सुघर मनिहारि ।
भुजा कढ़ति, मनिहारि-दृग फूल्यौ मनौ बसंत ;
मन छुटि चल्यौ जु हाथ तै, धरि बाँधति गुनवंत ।
जब ही कर सौं कर गह्यौ, सिब-अरि कियौ प्रताप ;
तन बेपथु अति जानि कैं, मधुरैं कियौ अलाप ।
तुम लाइक चूरी कुमरि ! भूलि जु आई गेह ;
निरखि कह्यौ प्यारी ! तेरी क्यौं काँपति है देह ।
सरस्यौ प्रैंम हिऐं जु बलि, उत्तर देइ जु कौन ;
ओप-अमल ता पै चढ़्यौ, क्यौं न गहै मुख मौंन ।
ललिता कहि यह प्रैंम है, कोऊ परस्यौ रोग ;
जतन करौ तन पेखिकैं, कौन दई संजोग ।
परम गुनीलौ नंद सुत, मैं ढेल्यौ टकटोइ ;
अहो प्रिया ! प्रीतम विना, ऐसौ प्रैंम न होइ ।
सींचे नीर-गुलाब दृग; प्रिया चिबुक कर लाइ ;
प्रेम गहर तै काढ़िकैं, पुनि-पुनि लेति लगाइ ।
जस दीयौ सब ही कुलन, वनिता-रूप बनाइ ;
कौंन बड़ाई कीजिऐ, जस वरध्वज गोकुल-राइ ।
कौतुक रूपी खेल मैं, रजनी बाढ़ी सोभ ;
रसिकन हिऐं बढावनीं, नवल नेह की गोभ ।
जुगल प्रीति गाढी निरखि, भयौ हियौ अहलाद ;
बरनी लीला मौहनी, "श्रीहरिवंस" प्रसाद ।
बलि हित रूप चरित्र यह, जो बिचारि है नित्त ;
"वृन्दावन" हित भीजिऐ दम्पति रस सौ चित्त ।

अथवा—

छबि-आगरी कोबिद राग ;
बीनाँ अंक बिराज ही, बैठी बबा के बाग ।

ऊँचौ बँगला अति लसत, कमनी सरवर तीर ;
जाके अंग सुबास तैं, ह्वै रही भवरनु-भीर।
पछी हूँ कौतुक ठगे, ऐसी सोभा अंग ;
आभा नीलम की मनौ तन कौ दरसत रंग।
जे देखनि तरुनी गईं, ते जु बिलोईं प्रेम ;
बींधि गई रस नाँद मै, भूल्यौ नित कृत नैंम।

तुम चलि लावौ नगर मैं, मिलै अधिक सुख होइ ;
भूँखी वह जो नेह की, मैं देखी टकटोइ।
गुनी न ऐसौ देस यहि, रीझैगौ सुनि तान ;
औरनु कौ जु छकावही, आप छकै लै तान।
कौंमल परम सुभाव है, जानति प्रीति बिकाइ ;
जो आदर तुम देहुगी, फिर आवैगी धाइ।

सरिता जल थिर ह्वै रहै, जाकौ सुनति अलाप ;
सिब समाधि टारै बली, बिधि कौ टारत जाप।
ब्रज मंडल ऐसी नहीं, नाहिं भरत के खंड ;
अति गुनबन्ती भामिनी, यह आई परचंड।
यह सुनि अति अकुलाइ कै, चली सखी लै संग ;
रूप-सिन्धु उमँग्यौ मनौं, तामैं उठी तरंग।
उठि सनमानति साँवरी, फूली सरबसु पाइ,
दृग सौं दृग, मन सौं जु मन, उरझे सहज सुभाइ।

अहो कुसल अति नागरी ! तुम गुन भए प्रसस ;
राग अलापि सुनाइऐ, धरि वीना सुभ अस।
चपल करन नख दुति बड़ी, गौरी गाई बाल ;
रीझी अति सुनि लाड़िली ! दई आपु हिय माल।
मान बडी, तानन बडी, बड़ी रूप लहि लाह ;
प्रगट करी सब चातुरी, मन मै विपुल उमाह।

बिद्या निपुन उजागरी, धनि तुम सिखवनहार ;
कछु दिन बरसानै बसौ, चलौ हमारे लार।
सुनति कछुक मोर्‍यौ बदन चुप ह्वै रही सुजान ;
बीनाँ धरि दई कन्ध तै, रूखी भई निदान।
ललिता बूझति समझिकैं, का कारन बलि जाउँ ;
तुम उदास अतिही भईं, सुनति धाम कौ नाउँ।

मेरैं छक है गुनन की, सुनौं खोलिकैं कान ;
पर घर गएँ सु को सहै, होवै जो अपमान।
तुम्है प्रान सम राखि है, लाड़ नित नयौ होइ ;
अहो गुनीली भामिनी ! संसै मन तैं खोइ।

गुन गाहक बिरचे नहीं, दूरि करौ सन्देह ;
जे गुन कौ समुझै नहीं, तजिएँ तिनके गेह।
यह सुनि भई जु डहडही, सखी साँवरे गात ;
चंपक बरनी धन्नि तू ! कही समझि की बात।
अब हौं निहचैं चलौगी, जानि तिहारौ हेत ;
तो मन थाह मिली भटू ! यह नहि उत्तरु देत।

कहा न्याउ सौ करति हौ, कहति अड़ी लड़ि बैन ;
सुख पावौ तो बिरमियो, नहि करि जैयौ गैन।
तुरत उठी कर बीन लै, लगी कुँमरि के साथ ;
निपट मँद गमनी भई, गहि प्यारी कौ हाथ।
गोपन के मन्दिर जिते, सब कौं बूझति नाम ;
तन-स्रम अधिक जनावही, कहति किते अब धाम।

हम जु चढ़ै रथ पालकी, अति ही आदर जोग ;
गुनी रीझि, जानैं कहा, ब्रज के भोरे लोग।
कहौ मँगाऊँ अस्व-रथ, कहौ पालकी रंग ;
आग्या पहिलैं नहिं करी, यौंही चलि दईं संग।

हम जान्यौ नियरौ भवन, वह निकस्यौ अति दूर ;
खबर न या तै कछु परी, नेह रह्यौ उर पूर ।
औरु सुनौ मो-बीन कौ, नीकैं धरियो साज ;
मेरौ जीवन प्रान है, यहि सौ रंग-समाज ।

तुम मानति हौ खेल सौ, मो-मुख सुनि रस रीति ;
नारद, सारद की सदाँ, या बाजे सौ प्रीति ।
हौं सीखी उन कृपा सौ, हिय की गाढी लाग ;
ता प्रलाप तुम करति हौ, मो सौ अति अनुराग ।
ल्याई न्यारे भवन मैं, करत बहुत सनमान ;
अब एकान्त सुनाइयै, सुघर साँवरी तान ।

बीनाँ के सुर साधिकैं, अंक लाइ मुसिकाइ ;
गायौ चित की चौंप सौ, लीन्हौ सबनि रिझाइ ।
जैसिय रजनी ऊजरी, तैसीई हिऐं हुलास ;
चपल करज तैसेइ चलैं, औ तैसोइ परकास ।
अहो सहेली!साँवरी! करि इहि नगर निवास ;
असन बसन करिहौं सखी! रहि नित मेरे पास ।

मोहि ऐसौ यह नगर घर, यामैं संक न कोइ ;
आवति जाति रहौं सदाँ, जो राचर हित होइ ।
सखिन और बाजे लए, प्यारी लई कर वीन ;
ग्रीव ढुराई साँवरी! गायौ कुँमरि प्रबीन ।
जब उघरी संगीत गति, प्यारी दै कर ताल ;
छद्म बिसरि गई साँवरी! निरतति गति नँदलाल ।

ह्वै त्रिभंग ठाडी भई, करि मुरली कौ भाव ;
फूँक चलै, अँगुरी चलैं, भूली कपट कुदाव ।
राधा-राधा रट लगी, अधरन ही के माँहिं ;
समझि-समझि ललिता कही, यह तौ भामिनि नाँहि ।

भुजा, अस पै धरन कौं, झुकी प्रिया की ओर ;
सावधान हो साँवरी! कौतुक रचत जु जोर।
राज भवन मैं आइकैं, भूलि न आदर पाइ ;
स्यानी है, कै बावरी. अपनौ रूप बताइ।
यासौं प्रीति न तोरिऐ. हौं लाई जु बुलाइ ;
भेद हिए कौ बूझिकै, सादर देहु पठाइ।
प्रीतम कौ देख्यौ कहूँ, इन गति लीन्हीं चोर ;
परम चातुरी सींव गुन, आछैं लेति टटोर।
काँन लागि चित्रा कह्यौ, है यह नद-किसोर ;
मैं लच्छिन नीकैं लखे, दृग जु लगौहीं कोर।
भट्ट! बहुरि नीकैं परखि, बातन भाटौ फोरि ;
लाइक सौं समुझे बिना, गरुबौ नेह न तोरि।
भरी कटोरी अतर की, लाई सखी सुजान,
सबकी चोली लाइकैं, तिहि चोली परसे पान।
वह अधरन ही मैं हँसी, यह जु हँसी मुख खोल ;
है यह दूत सिरोमनि, कह्यौ सखिन सौं बोल।
भूल न कछु मेरीहि सखी! तब तुम लयौ बिलोक ;
प्रेम सिन्धु उमँगति जहाँ, कैसै छद्म जु रोक।
कबहूँ दुरि, कबहूँ प्रगट, आवत भानु निकेत ;
मधुप अनत बिरमै नही, दृढ़ जु कमल सौं हेत।
बरन्यौं कौतुक प्रेम कौ, नैम नही मरजाद ;
लखी जु रसिकन की गली, श्रीहरिबस-प्रसाद।
यह रस रसिक बिलास है, जामै अति ही चोज ;
"बृन्दाबन" हित बलि रुचै, दपति केलि मनोज।

—चाचा वृन्दावनदास

एक और, जैसे कि—

दुलहिन कौ हरि! रूप बनायौ,

लँहिगा पहरि औ ओढ़ि चुँदरिया, घूघट-पट मुख पै लटकायौ।
ज्यौं-के-त्यौं बैठे बनि-ठनि कै, नख-सिख लौं निज बदन दुरायौ;
सखी, आइ देखि जब दुलहिनि, ढिंग सजनी के औंघत पायौ।
कर-झकझोरि जगाइ ताहि पुनि, हरखत सब वृतान्त सुनायौ;
"नाराइन" बहू के लैवे कौ, भानु कुँवरि नैं मोहि पठायौ।

दादा ! उस दिन जब कि प्रिया जी की चपल सहचरी चन्द्र-कला ने आपको चुँदरी, विशाखा ने बिंदी और अंजन से मन-रंजन करते हुए ललिता लहँगा व केसर-कलित कंचुकी कस-कर कामिनि-रूप रचने लगीं, तब प्रिया जी की हँसी का पारावार न रहा था ! जैसे कि—

चन्द्रकला चुनि चूनरी चारु, दई पहिराइ सुनाइ जु होरी;
बैंदी बिसाखा रची "पद्माकर" अंजन आँजि समाज कै रोरी।
लागी जबै ललिता पहिरावन, कान्ह कौ कचुकी केसर बोरी;
हेरि हरैं मुसिकाइ रही, अँचरा मुख दै वृषभानु-किसोरी।

—अजी कहाँ तक कहा जाय, कहाँ तक गाया जाय, आपने तो निकुंजेश्वरी श्री प्रिया जी की टहल तक की है ! पाँव तक पलोटे हैं ? जैसे कि—

आजु हौं गई ही बीर ! सहज निकुंज माहिं,
कौतुक बिलोक्यौ तहाँ सब सुखदानी के;
कहत बनै न मोपै अचरज बात "हठी"
कहि-कहि हारे मुख चार बेद बानी के।
स्रवन सुन्यौ न मानैं आँखिन दिखाऊँ तोहि,
चलि दुरि मेरे संग चरित गुमानी के;
लूटैं सुख मोटैं, करे मनुहारि कोटै, बैठ्यौ—
पाँइन पलोटै लाल ! राधा महारानी के।

अथवा—

फिरत कहा है बीर ! बावरी भई सी तोहि—
कौतुक दिखाऊँ चलि परैं कुंज-द्वारी के ;
निमिष निहारे, डीठि कतहूँ न टारे, मारे—
नंद कौ कुमार नैन सैन सुकुमारी के।
करन पसार करि दगन लगावै "हठी"
बस परयौ गरबीली ग्वालि सुकुमारी के,
आई देखि हौ हूँ और दिखाऊँ चलि तोहि लाल—
चरन पलोटै वृषभानु की दुलारी के।

अथवा—

प्यारौ ! प्यारी की करत खबासी ;
रीझि रिझावत, कमल फिरावत, देखि रूप की रासी।
सूरज मुखी-ढंग लएँ प्यारौ ! ठाडौ राधा नाम उपासी ;
प्यारी मन कौ प्यारौ रंजन, "किसोरी अलि" लएँ संग दासी।

सुरस की खान "रसखान" साहब तो सारे जहाँ में ढूंढ आये पर कहीं आपका पता न लगा—खोज का नामोनिशाँ तक न मिला, न मिला ! लाचार आँखें बन्द कर बैठ गये तो क्या देखते हैं कि—

"बैठ्यौ पलोटति राधिका-पाँइन"

❀

ब्रम्ह, मै ढूंढ्यौं पुरानन, गानन, बेद-रिचा सुनि चौगुने-चाइन ;
देख्यौ, सुन्यौ कबहूँ न कितू वह कैसे सरूप औ कैसे सुभाइन।
टेरति, टेरति, हारि पर्यौ, "रसखानि" बतायौ न लोग-लुगाइन ;
देखौं, दुर्यौ वह कुंज-कुटीर मैं, बैठ्यौ पलोटति राधिका-पाँइन।

ललित किसोरी जी भी यही कहते हैं कि यदि श्याम से—सुन्दर साँवले से, मिलना है अथवा देखना है तो श्री प्रिया जी के

पाद-पद्म को दृढ कर गहे रहो—मिलन-अभिलाषा से उन्हें आलिंगन करे रहो, पकड़े रहो ! फिर श्यामसुन्दर कहाँ जा सकते हैं ? किधर भाग कर छिप सकते हैं ? क्योंकि—

"स्यामा-पद-बिच स्याम"

अर्थात्—स्यामा के, श्री वृषभानु-कुँवरि के चरणारविन्द में ही श्याम ! समा रहे हैं, उन्हीं में बस रहे हैं, इसलिये—

स्यामा-पद दृढ गहि सखी ! मिलिहैं निहचैं स्याम ;
ना मानैं दृग देखि लै, स्यामा-पद-बिच स्याम ।

—लघुरस-कलिका

श्यामसुन्दर ! उस दिन की चित्त-चुराने वाली चातुरी याद है न ? जब कि जावक लगाने की जल्पना में—अथवा महावर लगाने के बहाने, कोमल चरण-कमल छूने की ललित लालसा पर फटकारे गये थे, दुलराये गये थे। जैसे कि—

लाल ! एती चतुराई कहाँ पाई ;
जावक के मिस पाँइ परत हौ, करन चँहत आपुन मन-भाई ।
छल बहु भरे, साधु से दीसत, सखिन बतावत हौ सिबकाई ;
"भगवत" पाँइ परौ ललिता के, राज करौ हो चिर सुखदाई ।

हाँ हाँ लालन ! यह चतुरता भरी चतुरायी कहाँ पायी ? यह गुनन गरूली गाथा कहाँ सीखी कि जावक के, महावर के मिस—बहाने पग पड़ते हुए अपने मन की इच्छा पूरी करना चाहते हो ? अर्थात् चरन पलोटना चाहते हो ? पाँव छूना चाहते हो। अरे छलिया ! यद्यपि साधु जैसे बड़े भोले-भाले दीखते हो पर, हो निहायत छल-छन्द से भरे हुए, क्योंकि सखियों को सिवकायी का,

परिचारक पने का ढंग, 'रास्ता' सिखाते हुए, बतलाते हुए, खुद ही सेवक—परिचारक बनना चाहते हो ? धन्य सरकार धन्य हैं !

हया, उसकी आँखों मे क्यों कर हो या रब !
कि शोखी से भी है शरारत जियादह ।

—दाग

—और वेणी-गूथने मे तो आप इतने कुशल और सुशिक्षित थे—इतने "एक्सपर्ट" थे कि क्या कहा जाय ! अजी हजरत ! इस कार्य मे आप अपना सानी नही रखते थे, सानी ! जैसे कि—

बैंनी गूंथि, कहा कोऊ जानैं मेरी सी तेरी सौ !
बिच बिच फूल सेत, पीत, राते, को करि सकिहै री सौ ।
बैठे रसिक सवाँरन बारन, कौमल कर ककही सौं ;
"श्री हरिदास" के स्वामी स्यामा कुंज विहारी—
नख-सिख लौं बनाई दे काजर अँगुरी सौं ।

हाँ-हाँ सरकार ! आप की सी वेणी गूथना—बीच बीच में सफेद, पीले, लाल फूलो को चुन-चुन कर धरना, सँवारना और फिर कोमल कर से ककही (कंघी) का देना, आप से अधिक और कौन जान सकता है ? फिर कसम खाने की क्या जरूरत ! क्योकि इस की ताईद "ललित किसोरी जी" करते है, यथा—

आजु जुगल छबि कहत न आवत ;
गूंथत लाल ! सु रुचिर त्रिबैंनी, बिच-बिच रँग-रँग फूल लगावत ।
ऐंछत बार भरत सिसकारी, झिझकि-झिझकि दृग, भौंह चढ़ावत ;
मौंहन रसिक ! करत कर ढीलौ, चूक परसपर माँफ करावत ।
अलक निबारत-मिसि पुनि रसिया ! कर कपोल प्यारी परसावत ;
अँगुरी-फेरि, मरोरि उरोजन, ललित रँगीली लट लै आवत ।

कुंचित-कच माँथे पै इत-उत, राखत मानौं भँवर लड़ावत ;
हेरि रहत नैंना मद-माँते 'ललित किसोरी" हिय हुलसावत ।

—लघुरस कलिका

अथवा—

गूँथत रसिक लाल ! बर-बैंनी ;
इत-उत पाँति सीस सुमनन की, बिच मीड़ी सुखदैनी ।
लहुरे-चिकुर लिलाट-झुकाए, बिलुलित अलि-सुत-सैंनी ;
"ललित किसोरी" अलक बिथोरीं, गालन मन-हर लैंनी ।

—लघुरस कलिका

अथवा—

बैंनी, सुन्दर स्याम गुही ;
सोहत सुभग सीस स्यामा के, चंपा औरु जुही ।
अंग-अग पहिराइ अभूषन, देखत अति सुखही ;
"श्री बिट्ठल गिरिधरन" कहत यौं, रस की रास तुही ।

लाला ! ललित किसोरी जी ने वेणी गूथने के समय का बड़ा भावमय चित्र (आपका) खींचा है, ओह ! आपका कंघी द्वारा वालवाते जो बाल झड़कर कंघी के साथ चले आते हैं उनका अँगुली में लपेटना, चित्त को लपेटना जैसा है ! वाह ! क्या सुन्दर भाव है, जैसे कि—

ऐंछत बार झरे जे अँगुरिन चुनि-चुनि राखत रसिक-बिहारी ;
जोरि-जँगोरी, मरोरि-अँगुरियनु, अंबर-ग्रन्थि दई हितकारी ।
बाँधे बाहु-बिसाल ललित कर, लाल बनाइ जंत्र सुखकारी ;
"ललित किसोरी" बार बार मैं, बसत प्रान, चित अति रुचिकारी ।

भैया ! इस वेणी गूथने पर एक बात और याद आ गयी, वह यह कि—आप एक दफे कुछ ऐसी ही चतुराई के वहाने—गुहने

का त्यौहार मनाने, बड़ी खुशामद और आरजू के साथ सम्पन्न करने बैठे तो वह आजानु-आलम्बित कुञ्चित अलकावली प्रिया के सात्विक भाव स्वरूप स्पर्श-सुख से प्रस्वेदयुक्त होकर (केशावली) आलुलायित हो गयी, अर्थात्—भीग गयी और पानी चूने लगा अथवा आपके ही सात्विक पानी से तर होकर उन भीगे बालो से पानी टपकने लगा। अस्तु, इस पर श्री प्रिया जी कितने सुन्दर और सुहावने शब्दों के साथ विहँस कर तथा कुछ रुखाई से अलंकृत आँखों को जरा टेढ़ी कर कहने लगी कि—श्रीमान् !—

> रहौ गुही बेनी लख्यौ, गुहिबे कौ त्यौनार।
> लागे नीर चुचान जे नीठि सुखाए बार। —विहारी

अर्थात्—ठहरो, रहने दो, वाह ! खूब वेणी गुही ! और बलिहारी इस वेणी गूथने की चतुराई पर—कुशलता पर, बस ढंग देख लिया ! बड़ी बड़ाई करते थे कि—

> "वैनी गूंथ, कहा कोऊ जानैं, मेरी सी तेरी सौं"

—पर जरा अपनी उस कमनीय करतूत को तो देखो कि किस मुश्किल से—कितनी कठिनता से, सुखाये हुए बाल पुनः पानी में तर-ब-तर हो गये ! फिर आपके सात्विक से संयुक्त आबदार पानी से गीले होकर नीर चुचाने लगे। अस्तु—

> न चोटी गूंधिये, मैं गूंधना समझी करीने से ;
> सुखाये हाल ही के बाल तर हैं हरि ! पसीने से।
> —देवीप्रसाद प्रीतम

अथवा—

> "नीर चुचान लगे अबहीं, सटकारे से बार जे निठि सुकाए"

❀

गोपी कौ भेष बनाइ गुपाल जू ! श्री वृषभानु-सुता-ढिंग आए ;
हौं सजि जानति नीके सिंगार, कहौ सु करौं कहि बैन सुनाए ।
बेनी गुहावति प्यारी कह्यौ, सुघराइ ! इतै कित तै तुम पाए ;
नीर चुचान लगे अबही, सटकारे से बार जे नीठि सुकाए ।

अथवा—

लली ! तोरी अलक तनक सुरझाऊँ ;
बिच-बिच बार चारु रचि गूंथौ, चन्दक-मनी लगाऊँ ।
टुक झलकाइ झीन-नीले-पट, तौ हौं "अली" कहाऊँ ;
"ललित किसोरी" बार-बार सौं, मोहन-मन उरझाऊँ ।

—लघुरस-कलिका

वाह ! क्या कमनीय कामना है—अनुपम अभिलाषा है कि—

" लली ! तोरी अलक तनक सुरझाऊँ "

—और फिर मोहन का मन बाल-बाल में उलझाना—फँसाना युक्ति-युक्त याचना है । लेकिन लली ! मोहन का वह चंचल मन तो पहिले ही इन—

कारे सटकारे लहरदार छबिदार फनी के जाये से ;
अरगज़े अतर से मले हुए, मुख-शशी-संग लपटाये से ।

—शातल

—जालिम—जुल्फे-दुताँ के फन्दे में फस चुका है,—उनमें उलझ चुका है, आँखे भी अटक चुकी हैं ! तभी तो आप पुकार-पुकार के कहते हैं कि—

कमलाक्षि ! बिलम्ब्यतां क्षणं—
कमनीये कचभार बन्धने !
दृढ़लग्नमिदं दृशोर्युगं—
शनकैरद्य समुद्धराम्यहम् ।

अर्थात्—ठहरिये, ठहरिये ! अभी जूड़ा वा वेणी न बाँधिये, क्योंकि आपके इस कल कुन्तिल केश-पाश के सघन-जाल में मेरी निपट अरीली आँखें उलझी हुई हैं—फसी हुयी है, मै उन्हे वहाँ से आहिस्ता-आहिस्ता उभार लूँ, धीरे-धीरे निकाल लूँ, नहीं तो वे बालों में ही बँधी रह जाँयगी ! उलझी हुयी वहीं रह जायगी ! फिर न निकल सकेंगी तो मै उनसे हाथ धो बैठूँगा। अस्तु, दया कर अपनी इन जालिम-जुल्फों मे तायरे-दिल के साथ प्रेम-पुरनम-चश्मों को न फँसा—न फँसा ! उफ—

तेरी जुल्फो का पेच लखे, नागिन का सीना फाटै ही ;
कुंडल मोती मुख बिच्च लिये, अहि-बाल ओस को चाटै ही ।
खारही लहर जो सम्बुल की, उपमा को फिर-फिर डाटै ही ;
लहराती लखे मरें, जीवें, लहरें लेवें बिन काटै ही ।

—शीतल

अस्तु, दादा ! आँखों को—मन को, लाख बार समझाओ, अनेक यत्न रचो, पर ये कब मानते हैं ? कब समझने के हैं ? ये तो उन "सम्बुल सी तरह दार जुल्फो" में फँसेंगे ही ! उन में उलझेंगे ही ! क्योंकि—

गन्दुमी रंग भी है जुल्फ सियह फाम भी है ;

—फिर—

मुर्गे-दिल क्यों न फँसे, दाना भी है, दाम भी है ।

—कोई शायर

अथवा—

हर, बिरंचि, नारद, निगम, जाकौ लहत न पार ;
ता हरि कौ गहि गोपिका ! गरब गुहावत बार ।

—पद्माकर

मैया कन्हैया ! श्री प्रिया जी के इन आजानु-आलुलायित अलकावली की अनुपम उलझन मे फसे हृदय की तड़फन के तबीयतदार ताल पर थिरकते हुए और उनके प्रति अमित अनुराग का रसमय राग अलापते एक बात भूली सी जाती है ! वह यह कि एक बार आप "श्री प्रिया जी" का—श्री व्रजेश्वरी जी का, नखसिख पर्यन्त सुभग श्रृंगार विरचि बलिहार होते अपनी अनुपम कारीगरी निरखाने के निमित्त कर-कमल में दर्पण ले दिखलाते हुए प्रार्थना पूर्वक पूछने लगे कि—

"तेरौ मुख नींकौ, कि मेरौ राधा प्यारी"

हाँ-हाँ सच-सच बता दो प्रिये ! सच-सच, धोखा धड़ी न करो ! आपकी पैयाँ पड़ूं, बार-बार बलिजाऊँ ! "पलकन सौ पग झारूं" अतः आज तो बतलाने की कृपा कीजिये ही, कि—

तेरौ मुख नींकौ कि मेरौ राधा प्यारी !
दर्पन-हाथ लिएँ नँद-नंदन, साँची कहौ वृषभानु-दुलारी ।

अस्तु, इस पर अर्थात्—इस प्रकार बार-बार पूछने पर क्या ही अनुपम उत्तर मिला, जिसका जवाब ही नहीं । बस सुनकर टुकुर-टुकुर देखते ही बना ! मुँह बाकर निरखते ही बना ! हाँ तो वह उल्लास भरा अनुपमेय उत्तर क्या था ? यही न कि—

"हम का कहैं, तुम ही क्यौ न देखौ, हम गोरी, तुम स्याम बिहारी" ;

और—

हमरौ बदन ज्यौ चंद-उजारी, तुम्हरौ बदन जैसै रैन-अँधियारी ।
तुम्हरे सीस पै मुकट बिराजै, हमरे सीस पै तुम गिरिधारी ;
"चंद्र-सखी" भज बाल-कृष्ण-छबि, दोऊ ओर प्रीति अति भारी ।

प्यारे ! इसी भव्य भाव पर किसी भक्त की भव्य भावना [illegible] देखिये ! आप फर्माते हैं कि—

प्रात-समैं गिरिधर-राधा दोउ, मुख देखत दरपन मैं ;
जोरि कपोल कहत आपुस मैं, तुम नींके—
किधौं हम नीके, करौ बिचार अपने मन मैं ।
हरि की लटपटी पाग बिराजत, उनकी बिथुरी—
अलक, माँग सिथिल अति गोरे तन मैं ;
गोबरधनधारी इतनी आँखि उमगि चली—
अतुल रूप, बैस थोरी, मिली जु स्याम बदन मैं ।
—कोई कवि

हाँ तो—प्यारे ! मैं ही क्या कहूँ, भला यह भी कोई पूँछने की बात है ? इसे तो सारा संसार जानता है, कुछ छिपी बात नहीं है, सब प्रकाशयुक्त है और फिर "प्रत्यक्षं किं प्रमाणं" के अनुसार आप ही कृपा कर देख न लो कि—

'हम गोरी, तुम स्याम विहारी"

—मैं गोरी "तप्त काञ्चन" जैसी, खालिश गुलाब की पँखुडियाँ जैसी और आप...। प्यारे ! मेरा बदन—शरीर "अकलंकी—"शरदचन्द्रमरीचिवत्", और आपका अमावस की अधिक अंधकारयुक्त अँधियारी रात्रि......! लेकिन एक बात आप में भी विशेष है अवश्य ! वह यह कि—

"तुम्हरे सीस पै मुकट बिराजै, हमरे सीस पै तुम गिरिधारी"

चन्द्र सखी के उक्त अमुपम भाव के जवाब में "हठी" जी की एक कविता याद आ गयी है ! जैसे कि—

[illegible]-पति लागी मेरु, मेरु-पति लागी भूमि,
भूमि-पति सेस कौल कच्छप नीर-चारी सौं ;
दिग-पति लागी दिगपालन के हाथ "हठी"
सुर-पति लागी सुरराज-छत्रधारी सौं।
दान पति करन, करन-पति लागी बलि,
बलि-पति लागी कैलास के बिहारी सौं ;
तीनौ लोक-पति की लगी है ब्रज-पति सौं—
ब्रज-पति की लगी है बृषभानु की दुलारी सौं।

हाँ तो, आपके सिर पर तो मोर-मुकुट विराजता है, सुशोभित होता है—झोका खा-खा कर मन को अपनाता हुआ, इठलाता हुआ शोभा पाता है और आप, हमारे सिर की सरस शोभा है यानी रक्षक हैं आदि-आदि...। वाह! क्या सुन्दर शरूर भरा लाजवाब जवाब है! मन बहलाते हुए साफ-साफ उत्तर की क्या कोमल बहार है! धन्य हैं, धन्य है! पर लाला! हमें इस चिकने-चुपड़े उत्तर की सारी करामात याद है। आप इस—

"तुम्हरे सीस पर मुकुट बिराजै, हमरे सीस पै तुम गिरधारी"

—की गुमक में भले ही भूल जाओ, इस जरा से संमान पर भले ही इठला जाओ, लेकिन इस उक्ति का पर्दाफास पहिले ही काफी हो चुका है, जैसे कि—

मोर-चन्द्रिका स्याम सिर, चढ़ि कत करत गुमान ;
लखवी पाँइन पर लुठति, सुनियतु राधा मान। बिहारी—

अर्थात्—मोर-मुकुट की चन्द्रिका! इन बाप बसुदेव के सिर-चढ़े सपूत के सिर-चढ़ क्या गुमान मे भरी हुई ऐंठ रही है? मतवाली हो क्या झुक-झुक कर झोका खा रही है! अरे, ठहर-ठहर

तेरा यह सारा मतवालापन, सारा गरूर भरा गुमान, अभी-अभी धूल में मिला जाता है ! अभी-अभी गर्व-खर्व हुआ जाता है ! क्योंकि—

"सुनियतु राधा माना"❀

अथवा—

शिखिन की चन्द्रिका ! सर-श्याम चढ इतना न इतराना ;
लखेंगे लोटते पैरों, सुना प्रिय मान है ठाना ।

दादा ! जरा ठहरो, इतने न घबड़ाओ ! सखी के कहने के साथ ही न थरथराओ ! ठहरो ! ठहरो !! देखो वह सखी और क्या कह रही है ! कि—

ए तुम, पहिलै तौ देखौ आइ मानिनी की सोभा लाल !
पाछै तै मनाइ लीजो प्यारे हो गोबिन्दा ;
कर पै धरि कपोल रही री प्रिय नैन-मूँदि—
कमल-बिछाइ मानौ सोयौ सुख चन्दा । ×
रिस-भरी भौंह तापै भवर बैठे अरबरात,
इन्दु तर आयौ मकरंद हित अरबिन्दा ;
"नंददास" प्रभु ऐसी काहे कौं रुसए बलि—
जाके मुख देखे तैं मिटत दुख द्वंदा ।

❀ बिहारी के इस भाव पर—दो आर्या और देखिये, कितनी सुन्दर हैं । जैसे कि—

मधुमथनमौलि-माले सखि ! तुलयसि तुलसि किं मुधा राधाम् ;
यत्तव—पदमदसीय, सुरभयितु सौरभोद्भेदः ।

❀

शंकर-शिरसि निवेशितपदेति मा गर्वमुद्वहेन्दुकले ?
फलमेतस्य भविष्यति चण्डीचरणरेणुमृजा ।

× नंददास जी के उक्त अनुपम भाव पर, पद्माकर जी का सवैया भी क्या सुन्दर है जैसे कि—

वाह ! क्या अभिनव स्वरूप है, देखो देखो दादा ! धन्य है सखि ! धन्य है, इस सुन्दर झाँकी के क्या कहने हैं ! सचमुच दादा ! इस समय तो इस सखी ने इनाम पाने लायक काम किया है—पारतोषिक पाने के जैसा कार्य सम्पादित किया है; जो कि ऐसा अद्भुत सुस्वरूप दिखलाया, वाह !

कर पै धरि कपोल रही री प्रिय नैंन मूंदि—
कमल-बिछाइ मानौं सोयौ सुख चंदा ।

और—

रिस-भरी भौह ता पै भॅवर बैठे अरबरात—
इन्दु तर आयौ मकरंद-हित अरविंदा ;

—का तो जवाब ही नहीं है, क्या, कलेजे की कसक सा मजा दे रहा है ! अस्तु, देखिये-देखिये—

भैया ! सुना है कि एक दफे आपने भी मान-मुकुलित मानिनी का अभिनव रूप भरा था । साड़ी चोली से सज-धज कर—बन-ठन कर, मान की वह अनूठी अदा दिखलायी थी कि दिल बाग-बाग हो गया था । जैसे कि—

अहो मेरे लाल-पिया भाँमती ! यह कौतुक देखौ आइ ;
बृन्दा बिपिन सुहामनौ, रवि-तनया के तीर ;
रसिक राइ रस सौं भरे, पलटि पैहैर लए चीर ।

कै रति-रंग थकी थिर ह्वै, परजक मैं प्यारी परी सुख पाइकैं ;
त्यौं "पदमाकर" स्वेद के बुंद, रहे मुकताहल से तन छाइकैं ।
बिंदु रचे मैंहदी के लसैं कर, तापर यौं रह्यौ आनन आइकैं ;
इन्दु मनौ अरविन्द पै राजत, इन्द्र-वधून के बृन्द बिछाइकैं ।

स्याम पिया भई मानिनी, गोरे लाल मनावन हार ;
मान न छाँडति मानिनी, ए तौ रिझवत बहुत प्रकार।
पाँइन पर बिनती करत अरु कहत रसीले बैंन ;
पींठ फेरि, मुख मोरि ही, करत न सूधे नैंन।
नाँचति, गावति, प्रैम सौं, वैनु बजाति रसाल ;
राधे कहि-कहि-कहि बोलि ही, सुनि बिहँसि उठे ततकाल।
पकी नरद काची करैं, यह रसिकन की रीति ;
मीन चाल हठि उलटि ही, खेल सदाँ रस रीति।
मदन रंग भींजे दोऊ, सोभा कही न जाइ ;
"भगवत रसिक" खिलाइ कैं, हँसि लीने कंठ लगाइ।

अथवा—

पिय भई प्यारी, गहि चरन मनावै बाँधैं—
जरकसी-चीरा सिर जरद अमैठौ है ;
जदपि न मानै, तानै भृकुटी-कमानैं बानैं—
कौंमल सुभाव कियौ अति ही कुठैठौ है।
कहति "किसोर" देखि देखति मही की ओर
बरबस आली री ! हिए मैं जात पैठौ है ;
अमल अनूप-रूप-राधिका कौ ठानि आजु—
परम सुजान कान्ह मान करि बैठौ है।*

—हाँ तो दादा ! "तेरौ मुख नींकौ कि मेरौ राधा प्यारी"

* किशोर के कमनीय भाव को "रत्नाकर जी" ने भी अपनाया है यथा—

मान ठान बैठ्यौ इत परम सुजान कान्ह।
भौंहैं तान बानक बनाइ गरवाली कौ ;
कहै "रतनाकर" बिसद अति बाँकौ बन्यौ—
बिपिन बिहारी भेप छहर छबीली कौ।

की तरह आपने और भी तो एक दफे कुछ इसी प्रकार की हृदय हारी होड़ लगाई थी ? ललित लीला के लुभावने स्वरूप पर रपटते हुए कुछ ऐसी ही एक बार और भी तो बाजी बदी थी ? जैसे कि—

वेसर कौन की अति नीकी ;
होड़ परी पीतम अरु प्यारी ! अपने-अपने जी की ।
न्याव परौ ललिता के आगैं, कौंन सरस, को फीकी ;
"नंददास" प्रभु बिलगि जिन मानौ, कछु इक सरस लली की ।

लाला ! यहाँ भी वही मुँह की खायी ? दाल, इस होड़ में भी न गल सकी ? यहाँ भी वही बात रही कि—

"कछु इक सरस लीली की"

लेकिन वाह रे धीठ ! फिर न माने, कुश्ती में पछड़ कर भी फिर पूँछने लगे कि अच्छा-अच्छा अब के आँखों की बाजी सही ! कमलाक्षों की विपुलता की होड़ रही ? अस्तु, बताओ कि नयन दीर्घ मेरे या श्री प्रिया जी के ?—पद्म-पलासाक्ष प्रिया जी के बड़े अथवा मेरे ? इस पर एक सखी झट बोल ही तो उठी कि—रहने दो, रहने दो ! इस घमंड को भी रहने दो ! अजी हजरत !

कारे महा अनियारे अमोल है, कौल जिन्हैं लखि लागत फीके ;
विष-भरे नाहक कहति सु आप ! हमारे तौ राखनहार है जीके ।
आरसी लै तुम दोऊ इकन्त ह्वै, देखति क्यौं न धौ कौन के है नींके ;
ऐसे बड़े कहाँ नैन तिहारे है ? जैसे बड़े हैं हमारी सखी के ।

लखि सखि ! आजु की अनूप सुखमा कौ रूप ,
रोपै रुचि रुचिर मिठास लौंन सी ली कौ ;
ललकि लचैवो लोल लोचन लला कौ उत—
मचलि मनैवौ इत राधिका रसीली कौ ।

कहिये श्रीमान् ! फिर कभी इस तरह और पूछने का—होड़ लगाने का, इरादा कीजियेगा ? इस तरह सरूर भरे सरस सवाल का फिर कभी साहस कीजियेगा ? उफ न बतलाओ, न बतलाओ ! पर नीची नजर क्यों किये लेते हो ? शर्म से झुके क्यो जाते हो ? हया से गड़े क्यो जाते हो ? अजी—

इस अन्दाजे हया से और चोरी खुल गयी दिल की ;
कहा था किसने तुमसे झेंप कर तिरछी नज़र कर लो ? ।

—कोई शायर

नाथ ! बहुत हो चुकी, आपके साथ ढिठाई बहुत हो चुकी,—शरारत काफी हो चुकी ! अस्तु, क्षमा कीजियेगा और, और-और अपराधों की तरह इसे न देखियेगा ! क्योकि मैं ने कोई नयी बात नही निकाली ! यह तर्ज का तोफा कुछ नया भेट नही किया गया ! अपितु 'मैंने' आपके लाड़-लड़ाये हुए और मुँह-चढ़े भक्तो द्वारा कही गयी अकह—कहानियाँ सिर्फ दुहरायी हैं—उन द्वारा गायी गईं गुण-गाथा ही श्रीमान् को समर्पित की है, अथवा—

"असारे खलु संसारे"

—के सुभग रंग-मंच पर, कर्म-कठताल के सहारे पुनः उनका विज्ञापन वितरित किया है। अस्तु, उस बात को—जिसे कि आपने इन भले-मानुषो को सिर चढ़ाते हुए अर्जुन के सन्मुख बार-बार कही थी कि—

हम भक्तन के भक्त हमारे ;
सुनि अर्जुन ! परतिग्या मेरी, यह व्रत टरत न टारे ।
भक्तै काज, लाज हिय धरिकैं, पाँइ पिआदे धाऊँ ;
(और) जहँ-तहँ भीर परै भक्तन पै, तँह-तँह जाइ छुड़ाऊँ ।

जो मो भक्तन बैर करत है, सो नित वैरी मेरौ ;
देखि बिचारि भक्त हित कारन, रथ हाँकत हौं तेरौ।
जीतैं जीति भक्त अपने की, हारैं हार बिचारौं ;
"सूरदास" जे भक्त बिरोधी (तिन्है) चक्र सुदरसन जारौं।

—फिर इन द्वारा कही गयीं टेढीमेढी—उलटी सीधी बातें भी सुनिये ! इन द्वारा अपने नये अवगुणों की बखान भी सुनिये ! घबड़ाने की, बनने की, बिगड़ने की बात ही क्या है ? उद्धव जीने जब कि गोकुल से आकर गोपियो की विरह-विथा से व्यथित हो उलटी सीधी सुनाते हुए फटकारा था कि—

करुनामयी रसिकता है सब तुम्हरी झूंठी ;
तब हीं लौं कहौ लाख, जबहि लौं बँधरही मूंठी।
मैं जान्यौ व्रज जाइकै, निरदै तुम्हरौ रूप ;
जो तुम कौं अबलंब ही, तिन कौ मेलौ कूप।
— कौन यह धर्म है।

—तब आपने क्या कहा था ? कौन सी आज्ञा से अलंकृत कर विपुल वचनावली कही थी ? गोपियों के दुःखानल से कुछ सचेत होकर क्या फर्माया था ? यही न कि—

ह्वै सचेत कहि भलौ सखा ! पठयौ सुधि लावन ;
औगुन हमरे आँनि, तहाँ तैं लौ बखानन।
उन मैं, मो मैं हे सखा ! छिन भरि अतर नाहिं ;
ज्यौं दीखति मो माँहि वे, त्यौ ही मैं उन माँहि।
—तरंगनि वारि ज्यौं।

अथवा—

नाहं वसामि वैकुण्ठे, योगिनां हृदये न च ,
मद्भक्ता यत्र गायन्ति, तत्र तिष्ठामिनारदः।

—अस्तु, इस नाते को, रसीले रिश्ते को, निभादो! निभादो !! क्यों ज्यादह इन लोगो से व्यंग भरी बातें सुनते हो ? क्यों ज्यादह कहने सुनने का मौका देते हो ? अतः बताओ—बताओ कि—

प्रभु ! मोहि कब लौं नाँच नचै हौ ;
अपने जनके निलज तमासे, कब तक जग हि दिखै हौ।
कबलौं इन विमुखन के मुख सौं, निज गुन-गनहि लजै हौ ;
अबलौं जिन पै सतत हँसत जम, तिन सौं हमहिं हँसै हौ।
छिन छिन बूड़त जात पक लखि, मोहि कब चित्त द्रवै हौ ;
जनम-जनम के निज "हरिचंद" हि, कब फिर कै अपने हौ।

हाँ-हाँ बताओ, बताओ कि—इस तरह निर्लज्जता से नचा-नचा कर अपने "जन" के तमासे और कब तक जग को दिखाते रहोगे? कब तक इन विमुखों से अपने गुनन-गरूले गुणो को लजाते रहोगे ? आह, जिनको देख-देख कर सतत यमराज हँसते हैं—उनकी खिल्ली उड़ाते हैं, आज वही आपकी अकर्मण्यता पर इठलाते हुए हम पर हँसते हैं, आवाज कसते हैं। शोक ! शोक !!

अबलौ जिन पै सतत हँसत जम,
तिन सौं हम हि हँसै हौ।

—और फिर हम नाँच भी तो खूब चुके ! अपनी निर्लज्जता के काफी तमासे दिखा भी तो चुके! बकौल "सूरदास" जी के कि—

अब मैं नाच्यौ बहुत गुपाल !
काम क्रोध कौ पैहेर चोलना, कंठ बिषै की माल।
महा मोह के नूपुर बाजैं, निन्दा सबद रसाल ;
भरम-भरयो मन भयौ पखावज, बजत कुसंगत चाल।
तृसना नाँद करत घट भीतर, नाना विधि दे ताल ;
माया कौ कटि फैंटा बाँध्यौ, लोभ तिलक दे भाल।

कोटिन कला काँछि दिखराँई, जल-थल सुधि नहिं काल ;
"सूरदास" की सबै अविद्या, दूरि करौ नँदलाल ।

—सूरसागर

सूरदास जी के उक्त पद्यानुसार कि "कोटिन कला काँछि दिखराँई। जल-थल सुधि नहिं काल" पर दो कुण्डलिया और देखने लायक हैं, यथा—

ब्यौमंबर आकास, नाक, नभ, स्रुति, बसु, बपु धर ;
अद्‌भुत रचि-रचि भेष, चरित करि-करि बिचित्र बर ।
नटवत धरि बहु रूप, भूप जगदीस-रीझि हित ;
धार्‍यौ जग-दरबार बार्‍बहु सुनिय सदय-चित ।
जो पै बिलोकि प्रमुदित प्रभू! तौ "बिहारि" वाँछित स्त्रचहु ;
रीझे कदापि नहिं होउ तौ, आवागमन निपेधि करहु ।

❀

रिझवन-हित श्री स्याम! स्वाँग मैं बहु बिधि लायौ ;
पर तुम्हार है अबनि, अहं बहु-रूप कहायौ ।
गगल, बेत, खख, ब्यौम, बेद, बसु, स्वाँग दिखाए ;
अन्त रूप यह मनुष, रीझ के हेत बनाए ।
जो रीझे तौ दीजिऐ, ललित रीझ जो चाँह सब ;
नाराज भए तौ हुकम कर, स्वाँग फेरि मत लाइ अब ।

अस्तु—

मेरी गति तुमही कहाँ तोप पाऊँ ;
चरन-कमल नख-मनि पै, बिषै-सुख बहाऊँ ।
घर-घर जो डोलौं तौ, हरि तुम्हैं लजाऊँ ;
तुम्हरौ कहाइ कहौ (फिर) कौंन कौ कहाऊँ ।
तुमसे प्रभु छाँड़ि कहौ, दीनन कौं ध्याऊँ ;
सीस तुम्हैं नाइ कहौ (फिर) कौंन कौं नवाऊँ ।

सोभा सब हॉनि करौ, जगत कौं हँसाऊँ ;
हाथी तैं उतरि कहा गदहा चढ़ि धाऊँ।
कुमकुम कौ लेप छाँड़ि, काजर म्हौं लाऊँ ;
काम-धैंनु घर मैं तजि, अजा क्यौ दुहाऊँ।
कनक-मैहैल छाँडि कहा परन-कुटी छाऊँ ;
पॉइन जो पेलौ प्रभु ! तौ न अनत जाऊँ।
संतन की पनही कौ, रच्छक कहवाऊँ ;
"सूरदास मदन मौहन", जनम-जनम गाऊँ।

सरकार ! इन चरणारविन्द को तज कर, इन 'नख चन्द्र छटा' को छोड़ कर, क्या विषय विदूपित सुखो को अपनाऊँ ? अथवा घर-घर डोलकर आपको लजाऊँ ? भला आपही कहो नाथ ! कि, आप की कहला कर अब किसका कहलाऊँ ? आप जैसे प्रभु का परित्याग कर क्या दीनों को—दुखियों को ध्याऊँ ? और आपको अलग रख औरो को सिर नवाऊँ ? भैया ! यह तो, समस्त शोभा की हानि कर जगत को हँसाना जैसा है ? हाथी से उतर कर गधे पर चढ़ना जैसा है ? मुख को कुंकुम—केशर-कलित करने की बजाय काजल से काला करना जैसा है ? फिर भला तुमही कहो कि कामधेनु को घर में छोड़ कर क्या अजा—बकरी को ढूंढ कर दुहाऊँ ? अथवा कनक—सुवर्ण के मनोहर महलों को तज कर पर्ण कुटी प्रस्तुत करूँ ? अस्तु, मेरी तो तुमही गति, मति और पति हो, इसलिये लाख ठुकराओ—लाख छिटकाओ पर इस पाद-पद्म को परित्याग कर अनत न जाऊँगा—न जाऊँगा ! क्योंकि—

भरोसौ दृढ़ इन चरनन केरौ ;
श्रीवल्लभ-नख-चंद छटा बिनु, सब जग मॉहि अँधेरौ।

साधन और नाहिं या कलि मैं, जासौं होत निबेरौ ;
"सूर" कहा कहै दुबिधि आँधरौ, बिना मोल कौ चेरौ ।

—पर यह क्या ! ऐं, कविवर बिहारीलाल जी क्या कहते हैं ? आप क्या फर्माते हैं कि—

कब कौ टेरतु दीन रट, होति न स्याम सहाइ ;
तुम हूँ लागी जगत-गुरु, जग-नाइक जग-बाइ ।
"जग-नाइक जग-बाइ", कहा तुम हूँ कौं लागी ;
आरत-रब के सुनत-सुनत हूँ दया न पागी ।
कहाँ सुनत गज टेर, चले हरि ! सके न छिन तब ;
कहाँ "सुकवि" रह्यौ रोइ, तऊ दग दैहौ धौ कब ।

अर्थात्—कब से दीन-हीन होकर, कातर होकर, पुकार रहा हूँ—प्रार्थना पूर्वक आपको रट रहा हूँ, श्याम-श्याम की माला जप रहा हूँ, लेकिन आप तो सुनते ही नहीं ! सहाय ही नहीं होते ! प्रसन्न ही नहीं होते ! इस दीन-दुखी का करुण-क्रन्दन कान ही नहीं लाते ! खयाल ही नहीं करते ! अस्तु, हे जगतगुरु और जगनायक श्याम ! क्या आपको भी इस जग की—संसार की शरूर भरी हवा लग गयी ? निर्दयी संसार निवासियो की शरारत आपको भी अपने शरूर से सरसा गयी ? और आपको भी अपना सा बे-पीर बना गयी ? जिससे कि—

हूँ कब का मुलतजी सुनते नही कुछ इल्तिज़ा साहब !
तुम्हें भी लग गयी शायद जमाने की हवा साहब ? ।

अथवा—

थोरे ही गुन रीझिते, बिसराई वह बानि ;
तुमहूँ कान्हा मनु भए, आज कालिह के दानि ।

❀

"आजु-काल्हि के दानि", दान-भै रीझि पचावैं ;
पचि न सकै तौ वाह-वाह करि कैं मुँह बावैं ।
जो दैनौं हीं परे, देत तब सरे-पिछौरे ;
"सुकवि" कहा तुम भए, अहो ऐसे जिय-थोरे ।

दादा ! पहिले तो आप थोड़े ही—जरा से ही, गुण पर रीझ जाते थे ? प्रसन्न हो जाते थे ? किसी के मुँह से उस "गणिका" की तरह अथवा "अजामिल" की तरह झूठ-मूठ ही तुम्हारा नाम निकल जाने पर उसका बेड़ापार लगा देते थे ? इस ससार-असार से तार देते थे ? पर अब तो वह "थोड़े से गुन पर रीझने" की अनोखी बान बिसार सी दी है ! क्योंकि—अब तो नाना प्रकार की अतुलित भक्ति से—अपने में अनेक गुणों का सुसम्पादन करके हम आपको रिझाने की प्रबल चेष्टाएँ करते है, लेकिन आप पहिले जैसे रीझते ही नही ! उलटे हमारी प्रत्येक प्रार्थना, उपासना और भक्ति तथा सत्कर्म पर नट के ढोलिया की तरह "यह भी नहीं बदा, यह भी नहीं बदा", बदते हुए अर्थात् कहते हुए हमारी तमाम मेहनत की उपेक्षा कर जाते हो ! जिससे मालूम होता है कि आप अब "दानि"—नट के साथ ढोल बजाने वाले से बन गए हो ! अथवा आजकल के सदृश "परम कृपणी दानी" जिस तरह याचक में सौ-सौ मीन-मेख निकाल-निकालकर कि—तुम में यह बात नहीं, वह बात नहीं, यह कसर है, वह कसर है—कहकर अर्थात् बहाने बना कर कोरा टाल देते हैं उसी तरह आप भी आजकल बरताव करने लगे ! अपने दीन-दुखी भक्तों को आप भी उसी तरह ठुकराने लगे ? ओह, बड़ी शेखी भर गयी है । जो कि—

वो थोड़े वस्फ़ ही पर रीझने की बान को खोया ;
मुख़य्यर इस जमाने के बने हैं आप भी गोया ।

—देवीप्रसाद प्रीतम

आह ! यह अनेक आपदाओं से अलंकृत असार : आपकी—"बिसरायी हुयी उस बर बान" पर विहँस रहा नास्तिक लोग तालियाँ पीट-पीट कर मखौल उड़ा रहे हैं । होकर चाहे जैसा अंट-संट बक रहे हैं पर आप कुछ सुनते नहीं । एकदम चुप्पी मारे बैठे है, कुछ बोलते-चालते ही ह अजी सरकार !

संतत संपति जानि कैं, सब कौऊ बसु देति ;
दीन-बन्धु बिन दीन की, को "रहीम" सुधि लेति ।

अर्थात्—अनंत सम्पत्तिवान को सब कोई सब कुछ देने लिये तैयार होता है—सोने में सोना और चाँदी में चाँदी सब को मिलाना जानते हैं, बड़ों का सब कोई आदर करना जानते हैं लेकिन सरकार ! दीन-दुखियों की आपके सिवा और कौन लेनेवाला है ? कौन बात पूँछनेवाला है ? अस्तु, हम जैसे जीवों से अधिक नही सहा जाता; कुछ-का-कुछ बक देते हैं—आपकी बे-रुखाई रूपी प्रबल यातना से पीड़ित हो रोने लग जाते हैं ! इसलिए करबद्ध प्रार्थना है कि श्रीमान् ! अब बकनें-बकाने का अवसर न दो ! उटपटाँग कहने-सुनने का अब कोई और मौका न दो ! क्योंकि—

तुम बिनु प्यारे ! कहुँ सुख नाहीं ;
भटक्यौं बहुत स्वाद रस लंपट, ठौर-ठौर जग माँहीं ।
प्रथम चाव करि बहुत पियारे ! जाइ जहाँ ललचाने ;
तहँ तै पुनि ऐसौ जिय उचटत, आवत उलटि ठिकाने ।

जित देखौं तित स्वारथ ही की, निरस पुरानी बातैं ;
अतिहि मलिन ब्यौहार जगत कौ, घिन आवत है तातैं ।
हीरा जाहि समझते सो निकरत काँचौ काँच पियारे ;
या ब्यौहार नफा पाछैं पछितानौं कहति पुकारे ।
सुन्दर, चतुर, रसिक औ नेही, जानि प्रीति जित कीनी ;
तित स्वारथ अरु कारौ-चित हम, भलैं सबहि लखि लीनीं ।
सब गुन हौंइ जु पै तुम नाहीं, तौ बिनु नौंन रसोई ;
ताही सौं जहाज-पच्छी सम, गयौ अहो मन होई ।
अपने औरु पराए सबहीं, जदपि नेह अति लावैं ;
पै तिनसौं संतोख होतु नहिं, बहु अचरज जिय आवैं ।
जानत भलैं तुमारे बिनु सब, बादहिं बीतत साँसैं ;
"हरिचन्द" नहिं छूटत तौ हू, कठिन मोह की फाँसैं ।

अस्तु, अब बहुत लिखना एकदम व्यर्थ है और इतना ही देना "अलम्" होगा कि—आपको अपने बाने की, भगवान् की, तनक भी लज्जा है, शर्म है, तो जैसे-तैसे हम जैसे मुँह ढीठो को जिस तरह भी हो अपनाओ ! इस भवसागर से बेड़ा लगाओ ! अतएव नाथ !

कहि-कहि बचन बिहँसि माँथे पर कर कौ कबै धरौगे ;
करुणा-कर चित्त-चोर कहावत, चित कौ कबै हरौगे ।
हरखि हमारी आँखिन मैं, सुख-सुखमा कबै भरौगे ;
"सहचरिशरण" रसिक आशिक मोहि, मौंहन ! कबै करौगे ।

ैंकि—

मय-अमलादि पिया न पिया, सुख प्रैम-पीयूप पियारे ;
नाम अनेक लिया न लिया, रति स्यामा-स्याम लियारे ।
आन सुदान दिया न दिया, वर आनँद-हुलसि दियारे ;
जग-जग्यादि किया न किया, हिय पर-उपकार कियारे ।

—

मोहू दीजै मोषु, ज्यौं अनेक अधमनु दयौ ;
जो बाँधैं ही तोषु, तौ बाँधौ अपने गुननु ।

—विहारी

अर्थात्—हे अधमोद्धारण नाथ ! जिस प्रकार करुणा के .
भूत हो अनेक अधमाधमों को "मोक्ष" रूपी पारितोषक
उसी तरह अपनी करुण-कृपा द्वारा मुझे भी इनाम स्वरूप "मोक्ष"
दीजिये और यदि, आप को मुझे बाँधने में ही—वंधन में रखने
से ही तोष अर्थात् संतोष हो, इच्छा हो, तो अपने गुणों से बाँध
कर रखियेगा ! अपने सगुणरूप उपासना में रत रखियेगा ! विशेष
क्या कहूँ ! अत:—

बहुत-से आसियों को मोक्ष दी जैसे, मुझे दीजे ;
अगर बाँधे क़नाअत है तो बाँध अपने गुनों लीजे ।

इति शुभम्